ISSN 2454-6879

साहित्यिक-सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का मंच

अंक-12, जुलाई-अगस्त 2017

सम्पादक

सुभाष चंद्र

सम्पादन सहयोग

जयपाल, कृष्ण कुमार, अमन वाशिष्ठ, अरुण कैहरबा, अविनाश सैनी

सलाहकार

प्रो. टी. आर. कुंडू , ओम सिंह अशफाक, परमानंद शास्त्री, सुरेन्द्रपाल सिंह

प्रबंध एवं प्रसार

विपुला, सुनील, इकबाल, विकास साल्याण, ब्रजपाल, राजेश कुमार, किशु गुप्ता

सहयोग राशि

व्यक्तिगत : एक वर्ष 200 रुपए तीन वर्ष 500 रुपए
संस्था : एक वर्ष 400 रुपए, तीन वर्ष 1 हजार रुपए
आजीवन : पांच हजार रुपए संरक्षक : दस हजार रुपए

ऑनलाईन भुगतान के लिए

बैंक खाता : देस हरियाणा, इलाहाबाद बैंक कुरुक्षेत्र
खाता संख्या : 50297128780, IFS Code: ALLA0211940

ई-मेल : haryanades@gmail.com

WEB : desharyana.in

ISSN 2454-6879

प्रकाशित रचनाओं में प्रस्तुत विचार एवं दृष्टिकोण से सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं।
सम्पादक एवं संचालन अव्यवसायिक एवं अवैतनिक। समस्त कानूनी विवादों का न्याय-क्षेत्र कुरुक्षेत्र न्यायालय होगा।

देस हरियाणा

912, सैक्टर-13, कुरुक्षेत्र, (हरियाणा)-136118

संपर्क: व्यवस्था - 99913-78352 संपादकीय - 94164-82156

स्वामी-प्रकाशक-सम्पादक-मुद्रक सुभाष चंद्र द्वारा 912, सैक्टर-13, कुरुक्षेत्र हरियाणा से प्रकाशित

इस बार

इसा राग्गड़ गाओ हे कवि माचै रम्मन्द रोळ

कैसे मंजर सामने आने लगे हैं
गाते गाते लोग चिल्लाने लगे हैं

संवेदनशील लोगों के ऊपर के सांस ऊपर और नीचे के नीचे नहीं रह जायेंगे जब उन्हें अहसास हो कि एक जवान घर से हंसते हुए बाजार गया, त्योहार की खुशियों मनाने की खरीददारी करने के लिए और वापस आया तो वह सफेद कपड़े में लिपटे मांस के लोथड़े के रूप में। एक किसान पशु मेले से घरेलू जरूरत के लिए पशु खरीदकर आ रहा हो, लेकिन वह अपने पैरों पर नहीं, बल्कि दूसरों के कंधों पर घर पहुंचे।

संवेदनशील लोगों का कलेजा कांप जाने के लिए यह काफी नहीं कि जब पता चले कि ये जवान और किसान किसी ट्रेफिक हादसे का शिकार होकर लाश में तब्दील नहीं हुए बल्कि भीड़ ने इनको पीट पीटकर मार दिया। जब इसकी पुष्टि हो जाए कि इस उन्मादी भीड़ में धर्म व संस्कृति रक्षा का दावा करने वाले प्रशिक्षितों के साथ सामान्य लोग भी थे तो संवेदनशीलों की आत्मा को लकवा ही मार जाएगा।

यूं तो कोई अचानक ही दाढ़ी-टोपी देखते ही लाठी-चाकू नहीं चलाने लगता। भीड़ द्वारा पीट पीट कर मारने की ये घटनाएं ये सोचने पर तो जरूर ही मजबूर करेंगी कि नफरत और घृणा की बर्फ की मोटी परत चंद दिनों और महीनों में नहीं ही जमी। सालों साल लगे होंगे नफरत की जमीन तैयार करने और फसल उगाने में और अब यह खेती लहलहा रही है।

इन घटनाओं पर मोमबत्ती उठाकर इंसानियत जगाने वालों को भी आत्म-मूल्याकंन तो करना ही होगा कि यदि पहले ही मोमबत्ती उठाई होती तो शायद ये मंजर ना देखने पड़ते। जैसा कि वे कह रहे हैं हो सकता है कि इस तरह की घृणास्पद बर्बर हिंसा को सत्ता का समर्थन हासिल हो, लेकिन यह भी सच है कि ये सिर्फ कानून-व्यवस्था का मसला भर नहीं रह गया है बल्कि इसकी जड़ें सामाजिक मनोचेतना में गहरे तक धंस चुकी हैं। इस तरह की अमानवीय घटनाओं की पुनरावृति साम्प्रदायिक नफरत व घृणा की सामाजिक-सांस्थानिक स्वीकृति का प्रकटीकरण हैं।

'घूंघट की आन बान' को निर्वाचित गणमान्य 'अपनी पहचान और शान' से जोड़ने की ताईद करने लगें तो यह बिल्कुल संभव है कि किसी दिन बाजार में गई आपकी बेटी-पोती-पत्नी-मां की चोटी काटकर लफंगों का गिरोह सांस्कृतिक जश्न मनाए और इस पर इतराए कि उन्होंने उन औरतों को सबक सिखाया है जो घूंघट को अपना सर्वोत्तम गहना नहीं मानती।

हम विद्वेष के ज्वालामुखी पर बैठे हैं। अंदर ही अंदर जो आग सुलग रही है कभी कभी उसकी लपटें यत्र-तत्र घटित घटनाओं में दिखाई देती हैं। जब एक महा पराक्रमी शूरवीर जाति सदियों से उनकी सेवा करने वाली एक निस्सहाय दलित जाति की बस्ती पर शत्रुओं की तरह हमला कर दे। उनके कमाने-खाने और रहने-सहने के समस्त साधनों को धूल में मिलाने की ठान ले। क्या ये अंदाजा लगाना मुश्किल है कि हम गृह-युद्ध जैसे परिवेश के रहवासी हैं। क्या पता कब किस बात के बहाने कहीं से कोई चिंगारी भड़क उठे और समाज के अंगों को झुलसा दे।

शासन तंत्र के नागरिकों के प्रति गैर-जिम्मेदार व संवेदनाशून्य व्यवहार का अनुमान इससे सहज ही लगाया जा सकता है कि देश के अन्नदाता जाएं तो अपनी समस्याओं का समाधान करवाने के लिए, फसलों के वाजिब दाम मांगने के लिए और उनका स्वागत हो पुलिस की गोलियों से। सत्ता विजय माल्यों-ललित मोदियों के लाखों करोड़ बट्टे खाते डालकर माफ कर दे वहां किसानों की तुच्छ रकम भारी पड़े तो सत्ता का चरित्र समझना कोई राकेट साईंस तो है नहीं।

हरियाणा की कहावत है 'बेरा नीं के-के

देख कै मरणा होगा' ये चरितार्थ हुई जब राजधानी की सड़कों पर चूहे और मानव मल-मूत्र खाने जैसे वीभत्स तरीके अपनाने पड़े अन्नदाता को अपनी समस्या की ओर ध्यान शासन का खींचने के लिए।

वैश्विक आतंकवाद संबंधी लेखन पर पुल्तिजर पुरस्कार प्राप्त युद्ध-पत्रकार क्रिस हेजेस ने अपने समय की संस्थाओं के चरित्र को सही ही परिभाषित किया है।

आज हम एक ऐसे राष्ट्र में जी रहे हैं जहाँ डॉक्टर स्वास्थ्य को तबाह करते हैं,
वकील न्याय को तबाह करते हैं,
विश्वविद्यालय ज्ञान को तबाह करते हैं,
सरकारें स्वतंत्रता को तबाह करती हैं,
अखबार सूचनाओं को तबाह करते हैं,
धर्म नैतिकता को तबाह करते हैं
और बैंक अर्थव्यवस्था को तबाह करते हैं।

ये विपर्यय का युग है। लंबे संघर्षों और बलिदान से हासिल मानवीय मूल्यों के प्रति हिकारत और विसर्जन का समय। एक समय था जब सत्ता के दुरुपयोग पर नियंत्रण के लिए संस्थाओं का निर्माण किया जा रहा था, लेकिन अब सत्ताएं इन संस्थाओं को तबाह करने पर उतारू हैं। सत्य की खोज, प्रसार और स्थापना की जिन संस्थाओं से अपेक्षा थी वे झूठ की लीला के थोक कारोबारी हो गई हैं। जिस मीडिया को लोकतंत्र का चौथा स्तम्भ माना था उसकी जुबान, दिमाग व दृष्टि की उसकी नीलामी हो चुकी है। जन-जागृति से मुक्ति की क्या राह दिखायेगा जब वह खुद ही गुलाम हो गया है धन-पशुओं के चांदी के टुकड़ों का। देश व समाज की तरक्की के आधार धार्मिक सहिष्णुता और साम्प्रदायिक सद्भाव के स्थान पर विद्वेष, संकीर्णता और कट्टरता की खेती की जा रही है। आर्थिक बराबरी और सामाजिक समानता विचारधाराओं व आंदोलनों के केंद्रीय लक्ष्य थे, अब वे धुंधले पड़ते जा रहे हैं।

समाज का सत्तासीन वर्ग नीतिबद्ध तरीके से विपर्यय का चैंपियन बना हुआ है। परंपरागत तौर पर सामाजिक-सांस्कृतिक वर्चस्वी तबके अपनी चौधराहट की ठसक को छोड़ने को तैयार नहीं।

शोषित-वंचित-दलित वर्गों में दिशाहीन उद्वेलन है। सदियों से शोषित निम्न स्तरों पर रहने वाले भी उनकी दाब-धौंस सहने को तैयार नहीं। वे वर्चस्वी पंजे की जकड़ से मुक्ति की कीमत देने के लिए तो तैयार हैं, लेकिन दिशाहीनता के चलते कुछ निर्णायक व रचनात्मक नहीं कर पा रहे हैं। जाति आधारित चेतनाहीन सेना-आर्मियां जोशीले युवाओं को आर्कषित तो करती हैं, लेकिन प्रतिहिंसा व प्रतिशोध के दुष्चक्र से निकलकर कुछ सकारात्मक कर पाना बेहद कठिन है।

समाज के पतीले में उबाल व खदबदाहट की आवाज तो साफ सुनाई दे रही है, पर पकने की महक अभी नहीं आ रही है। परंपरागत सैद्धांतिक प्रणालियां वर्तमान दौर की घटनाओं को परिभाषित करने में स्वयं को लाचार पा रही हैं।

गादळ-घोळ मची हुई है। ऐसे में साहित्यकारों के काम की सार्थकता जटिल यथार्थ को बोधगम्य बनाने में है। साहित्यकार समाज की आत्मा का शिल्पी होता है। अपने समय के वैचारिक संघर्षों से कटकर कोई रचना महत्वपूर्ण नहीं हो सकती। प्रेमचंद ने कहा था कि साहित्यकार राजनीति का पिछलग्गू नहीं, बल्कि मशाल लेकर रास्ता दिखाता है। बुद्धिजीवियों-विचारकों-लेखकों को इस समय की जटिल प्रक्रियाओं के जटिल सूत्रों को सुलझाने के लिए गहरी जद्दोजहद करनी पड़ेगी।

इस अंक में

हिंदी साहित्य विमर्श में मुक्तिबोध को मुश्किल लेकिन जरुरी कवि माना जाता है। मुक्तिबोध ने हिंदी साहित्य में नई चेतना व विमर्श पैदा किए थे। साहित्य रचना-प्रक्रिया और उसे समझने की दृष्टि पर महत्वपूर्ण काम किया था। साहित्यकार को यथार्थ को पहचानने व अभिव्यक्त करने की नई नई शैलियों से अवगत कराया था। रचनाकार को संघर्षों का भागीदार होने की कल्पना की थी मुक्तिबोध ने। इस साल मुक्तिबोध की जन्म शताब्दी मनाई जा रही है। उनके साहित्यिक सरोकारों को समझने के लिए डा. ओम प्रकाश ग्रेवाल, गोपाल प्रधान,आनंद प्रकाश के आलोचनात्मक लेख यहां प्रस्तुत कर रहे हैं।

साहित्यकार की रचनाओं के साथ उसके जीवन को जानना भी दिलचस्प होता है। प्रेमचंद के उपन्यासों-कहानियों से पाठक खूब परिचित हैं उनके बारे में जानने के लिए दो पत्र उनकी पहली रचना और अमृतराय का संस्मरण दे रहे हैं।

राजस्थान के कवि रामस्वरूप किसान की राजस्थानी कहानी व कविताओं के साथ उनके व्यक्तित्व से परिचय करवाता लेख भी प्रस्तुत कर रहे हैं।

असगर वजाहत का साक्षात्कार, सुरेंद्रपाल सिंह का यात्रा-वृतांत दे रहे हैं।

कुलबीर सिंह मलिक, डा. दिनेश दधीचि व रामस्वरूप किसान की राजस्थानी कहानी दे रहे हैं। पूरन मुद्गल, रानी कुमारी, ओम बनमाली, मुक्तिबोध, कुलदीप सिंह, रामस्वरूप किसान, सतीश कुमार कंवारी की कविताएं हैं। लोकधारा में मंगतराम शास्त्री की रागनियां व लोकगीतों से सीठने दे रहे हैं।

आशा है ये अंक आपको पसंद आयेगा।

सुभाष चंद

-अपील-

- *देस हरियाणा सामाजिक-सांस्कृतिक पत्रिका है। पूर्णत: अव्यवसायिक, अवैतनिक पत्रिका है, जिसे किसी तरह का अनुदान प्राप्त नहीं होता है। यह पूर्णत: पाठकों तथा पत्रिका सहयोगियों के संसाधनों से प्रकाशित होती है।*
- *रचनाकारों, सामाजिक कार्यकर्त्ताओं से विशेष अनुरोध है कि पाठकों को पत्रिका से जोड़ें। पत्रिका के लिए अपने शहर में बिक्री का स्थान चिन्हित करके सूचित करें, ताकि पत्रिका पहुंचाई जा सके।*
- *रचनाकारों से निवेदन है कि अपनी रचनाएं भेजें। यूनिकोड, चाणक्य, कृतिदेव फोंट में ईमेल द्वारा सामग्री भेजें तो सुविधा होगी*

कब्रिस्तान की बेरियां

▢कुलबीर सिंह मलिक

मुल्क के बंटवारे के साथ हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच जो खून की होली खेली गई उसके कहर से उत्तर भारत का, विशेषत: पंजाब का, कोई गांव या शहर बच पाया था।

बात आठवें दशक के उत्तरार्द्ध की है।

पैंतीस-चालीस वर्ष की इमराना नाम की एक औरत अपने शौहर इस्माईल और बेटी राबिया के साथ हरियाणा के सोनीपत जिले के मिर्जापुर गांव में आ धमकी। इक्के में घर का सारा सामान लदा था। गांव की चौड़ी गली में एक किसान की कच्ची दहलीज, जो कभी ढोर-डंगर बांधने के काम आती थी, उन्होंने बीस रुपए महीने में किराए पर ली और मनियारी और घरेलू सामान की एक छोटी-सी दुकान अपने जीवनयापन के लिए खोल ली।

मिर्जापुर गांव जिले के उस भाग में था जहां गांवों में कोई भी मुस्लिम परिवार न बचा था। बंटवारे से पहले इस गांव में कुछ मुस्लिम परिवार थे। मुख्यत: उनका पेशा जुलाहे, तेली या खेत-मजदूरी का था। बड़े बुजुर्ग बताते थे कि हिन्दू और मुस्लिम परिवारों में बहुत ही सौहार्द्रपूर्ण रिश्ते थे। पर बंटवारे के दौर में न जाने लोगों में क्या पागलपन का दौरा आया कि दोनों कौम एक-दूसरे के खून की प्यासी हो गई। कौमी और सियासी जुनून का खामियाजा उन बेकसूर लोगों को भुगतना पड़ा जो जहां कहीं अल्पसंख्या में थे।

मुल्क के बंटवारे को तीस साल के लगभग हो चुके हैं और हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच जो नफरत की दीवार थी, कुंद होने लगी थी। फिर भी इमराना का यूं हिन्दुओं के गांव में जवान बेटी और शौहर के साथ आना हिम्मत की बात थी। शुरू के कुछ दिन इस्माइल और राबिया कुछ सहमे-सहमे से रहे। पर इमराना का आत्मविश्वास और लोगों का दोस्ताना और प्रेमपूर्ण रवैया देखकर बेखौफ और शांति का जीवन बसर करने लगे।

गांव वालों के लिए ये परिवार जिज्ञासा एवं कुतुहल का विषय बन गया। हम बच्चों के दिमागों में मुसलमानों के बारे में एक अजीब-सा चित्र था जिससे हम लोग उनका मिलान करने लगे। मुझे अब भी याद है कि बचपन के वो दिन जब गांव की फिरनी के एक भाग में हमें खेलने से रोक दिया जाता था। बताया जाता कि यहां भूतों का डेरा है और इस तरफ भूल कर भी न जाना। हम बड़े-बूढ़ों की इस प्रकार की चेतावनी से सिहर जाते थे पर कुतूहलवश मौका लगने पर उसी तरफ खेलने जाते थे। वहां कुछ बेरियों के पेड़ थे और खेलते-खेलते एक बार हम बच्चों को एक बेरी की जड़ में मिट्टी की एक छोटी-सी मटकी मिली थी, जिसमें अंग्रेजों के टाइम के पांच-पांच रुपए के तीन नोट रखे थे। नोटों पर जार्ज पंचम का चित्र छपा था। नोटों का पूरी तरह मुआयना कर बड़े बुजुर्गों ने बताया कि शायद ये नोट किसी मुसलमान ने दंगे के समय यहां पर छुपा कर रख दिए होंगे। पर अब वो कागज के टुकड़े से ज्यादा कुछ नहीं थे। यूं बेरी की जड़ में मटकी मिलने के बाद हमारी उत्सुकता फिरनी के उस हिस्से में और ज्यादा बढ़ गई थी। आज मैं जान चुका हूं कि जमीन का वो टुकड़ा मुसलमानों का कब्रिस्तान था, जहां कुछ मुसलमान जिंदा ही मौत की नींद सुला दिए गए थे।

हां तो बात इमराना और उसके परिवार को लेकर शुरू हुई थी। कुछ ही दिनों में इमराना गांव की औरतों में बड़ी लोकप्रिय हो गई। इमराना ने अपने सौम्य व प्रेमपूर्ण व्यवहार से औरतों, बच्चों और बुजुर्गों-सभी में एक खास स्थान बना लिया। वह थी ही इतनी अच्छी। सुंदर नैन-नक्श, ऊंचा कद, गौर वर्ण, इकहरा बदन, चेहरे पर इतनी ताज़गी व नूर-जैसे अभी बुरके से निकल कर आई हो। आवाज में मिठास और अपनापन उसकी सुंदरता में अलग ही निखार लाता था।

इमराना की बेटी राबिया भी जवानी की दहलीज पर पहुंच गई थी। कई बार औरतों ने बात-बात में उसे टोका भी कि अब बेटी के हाथ पीले कर दे। इमराना यह कहकर बात टाल देती कि गरीब की बेटी से कौन निकाह करेगा और फिर शादी के लिए बहुत गहने, कपड़े व पैसों की जरूरत होती है जो हमारे पास नहीं है।

इमराना को धागों, सितारों, चोटियों व मनियारी के अन्य सामान जैसे चूड़ी, गोटे, फूल-सितारों के बारे में गज़ब का ज्ञान था। औरतों की कलाई देखकर बता देती कि उन पर कौन-सी चूड़ियां सजेंगी। किस घाघरे या सूट के साथ कौन सी चूंदड़ी पहनी जाती है या कौन-सी रंग की चोटी किस जंफर के साथ जचेगी।

उसको गांव की औरतों द्वारा पहने जाने वाले गहनों के बारे में भी बड़ा ज्ञान था। इमराना की छोटी-सी दुकान गांव के लिए चमेली मार्किट-सी हो गई और इमराना गांव की औरतों के लिए शहनाज़ हुसैन सी हो गई।

कब्रिस्तान गांव की फिरनी के अंदर खाई के हिस्से में पड़ता है। मकानों की कतारें खाई से लगते पठार वाले भाग से शुरू होती थीं। कब्रिस्तान के साथ नेकी नंबरदार का घर था। घर का पिछला हिस्सा कब्रिस्तान की ओर खुलता था। जिन तीन-चार बेरियों के पेड़ों का मैंने जिक्र किया है, वो नेकी नंबरदार के घर के पिछवाड़े में थे। फुर्सत के वक्त इमराना आसपास के घरों में आ-जा लेती थी। बड़े बुजुर्गों, औरत-मर्दों से एक रिश्ता उसने कायम कर लिया था और उनसे मुखातिब भी सही नेग से होती थी।

सर्दियों के दिन थे। नेकी नंबरदार घर के पिछवाड़े धूप में बैठा हुक्का गुड़गुड़ा रहा था। इनकी बूढ़ी पत्नी सिमरन अंदर चरखा कातने में मगन थी। बेटे-बहू खेत-खलिहान में काम से निकले हुए थे कि इमराना आ धमकी।

'बेटी, अंदर बैठी है। चरखे के पीछे पड़ी है।' नेकी नंबरदार ने जवाब दिया।

इसी संवाद के बीच इमराना घर के अंदर पहुंच गई। साथ में नेकी नंबरदार भी

थे।

'ताई राम राम। और कितना कातोगी?' इमराना ने सवाल किया।

'बेटी, न तो खुद दम लेती है। न कभी बूढ़े चरखे को दम लेने देती है।' नेकी नंबरदार ने साथ दिया।

'तू तो हुक्के को बहुत दम लेने देता है ना जो मेरे को टोक रहा है। तेरे वाले से तो अच्छा काम है। सारा दिन खुर-खुर तो नहीं करती।' ताई ने पलटवार किया।

इस बीच इमराना ने ताई के साथ राम-रमी कर बूढ़े दम्पति को बातों में लगा दिया। इमराना ने घर के चारों और नज़र दौड़ाई और टिप्पणी की कि ताऊ हवेली तो काफी पुरानी है।

'बेटा, पुरखों की निशानी है। छेड़-छाड़ करना ठीक नहीं समझा। फिर पुरखों ने चीज़ भी तो काफी मजबूत बनाई थी।'

इमराना ने बातों-बातों में घर का मुआयना किया। ऐसा लगता था जैसे इमराना घर के कोने-कोने से वाकिफ थी। चौकबंदी की हवेली थी। चौक की एक तरफ एक अंधेरा कमरा था, जिसमें अनाज का भंडारण किया जाता था। इमराना वहां पहुंच कर एकबारगी ठिठक कर कुछ कहते-कहते रुक गई।

इसके बाद इमराना नेकी नंबरदार के घर कई बार आई। इधर-उधर की गपशप होती रहती। एक दिन बातों-बातों में इमराना ने दंगों के दौरान मारे गए या पलायन कर गए मुसलमानों के बारे में जिक्र कर दिया। नेकी नंबरदार बेचारा मन मसोस कर रह गया। सिर्फ इतना कह पाया कि बेटी वो बहुत माड़ा वक्त था। भगवान ऐसा वक्त किसी को न दिखाए।

इमराना ने उन मुलाकातों में बात और कुरेदनी चाही। नेकी नंबरदार को लगा कि इमराना है जो या तो कुछ जानती है या फिर कुछ जानना चाहती है। वह अतीत को टटोलने लगा।

पर उसे इमराना की गुत्थी सुलझाने में ज्यादा वक्त नहीं लगा। जाड़ों की एक शाम। कोई 10 बजे का समय था। चारों और सन्नाटा था। नेकी नंबरदार घर के पिछवाड़े बैठा हुक्का गुड़गुड़ा रहा था कि उसे कब्रिस्तान की बेरियों की तरफ एक औरत की परछाई-सी नज़र आई। नेकी ने चुपके से उस परछाई का पीछा किया। अक्सर उधर टोने-टोटके या बेरियों पर तागा पूरने के लिए औरतें आ जाती थीं। पर इतनी घनी रात में नहीं। औरत के हाथ में कुदाल थी और वह बहुत ही नीरवता से बेरी की जड़ों को खोदे जा रही थी। काफी गहरी खोदने के बाद वह थक कर बैठ गई। मिट्टी को बेरी की जड़ों में पूर कर वह दूसरी बेरी की ओर बढ़ी। उस बीच नेकी उस परछाई के करीब आ चुका था। उसने आवाज लगाई-'कौन?'

औरत वहीं बैठी रही। भागने की भी कोशिश नहीं की। मुड़ कर जवाब दिया-

'ताऊ मैं हूं इमराना। आपके पड़ौसी अखतर जुलाहे की बेटी इमराना जिसे तीन दिन से आपने अपनी चने की बुखारी में छुपा कर रखा था।'

नेकी स्तब्ध था। अतीत की सारी यादें उसके मानसपटल पर एक फिल्म की तरह घूम गई। दंगों की उस शाम दंगाइयों ने चुन-चुन कर गांव के मुस्लिम परिवारों को मौत के घाट उतार दिया था। इमराना के मां-बाप उस दंगे में मारे गए थे। चार साल की इमराना को नेकी नंबरदार चुपके से उठा अपनी हवेली में घुस गया था। तीन दिन तक उसने उस बच्ची को गांव वालों से छुपा कर रखा। इस बीच चौथी रात इमराना का एक चाचा जो उस बदनसीब शाम को किसी दूर के गांव में गया हुआ था, चुपके से गांव में आया था। रात को वह नेकी नंबरदार के घर पर ही रुका था और अगली सुबह मुंह-अंधेरे ही नेकी नंबरदार उन्हें गांव की सीमा से पार कर आया था।

इमराना ने आगे बताया था कि उसका चाचा उसे रिश्ते की मासी के घर जिला मुजफ्फरनगर के एक गांव में ले गया था। और वहीं उसका पालन पोषण हुआ और बाद में उसकी शादी कर दी गई।

इससे पहले कि इमराना कुछ और कह पाती, नेकी नंबरदार बोल पड़ा-

'बेटी, बेरी की जड़ों में अपना गहनों का संदूक तलाश रही हो न! वह हमारे पास सलामत रखा है। उसकी चिंता मत करो। रात बहुत चढ़ गई है। चुपके से घर चली जा। कोई देख लेगा तो बवाल खड़ा कर देगा।'

दरअसल जिस शाम को इमराना के मां-बाप की हत्या की गई थी, वह बेरियों की तरफ से ही आए थे। इमराना की मां के हाथ में कुदाल थी और दंगाइयों ने समझ लिया था कि वह कुदाल आत्मरक्षा के लिए संभाले थी। किसी को ऐसा शक न गया कि वह बेरियों की जड़ में गहने गाड़ कर आई थी। गहने गाड़ते समय उसकी मां इमराना को साथ ले गई थी और उसे साफ मना किया था। किसी को भी इसके बारे में बताने को। जब हम बच्चों को एक दिन खेलते-खेलते एक बेरी की जड़ में मिट्टी की मटकी मिली तो नेकी ताऊ को शक हुआ और उन्होंने सारी बेरियों की जड़ें खुदवा डाली थी। एक बेरी की जड़ों में उन्हें गहनों का वो संदूक मिल गया था। पर नेकी ने गहनों के इस संदूक के बारे में अपने बेटों को भी नहीं बताया था। सिर्फ उसकी पत्नी सिमरन इस बारे में जानती थी।

इस बीच नेकी नंबरदार के घर में आर्थिक तंगी का दौर भी आया पर दोनों पति-पत्नी का पक्का हौसला था कि ये गहने किसी भी हालत में अपनी बहू-बेटियों पर नहीं चढ़ाएंगे। उनका फैसला था कि या तो ये गहने इनके असली वारिस के पास जाएं या फिर कहीं नेक उद्देश्य के लिए दान कर दिए जाएं। दोनों पति-पत्नी इसी उधेड़बुन में थे कि इमराना गहने संभालने के लिए आ पहुंची थी।

रात को ही नेकी नंबरदार ने सारे मामले के बारे में पत्नी से सलाह ली। दंगों को लगभग तीस साल बीत चुके थे और इस बीच लोगों की सोच में बहुत बदलाव आ गया था। गांव में जिन लोगों ने दंगों में बढ़चढ़ कर भाग लिया था या लूटपाट की थी उनका हश्र कोई अच्छा नहीं हुआ था।

दंगों को लगभग तीस साल बीत चुके थे और इस बीच लोगों की सोच में बहुत बदलाव आ गया था। गांव में जिन लोगों ने दंगों में बढ़चढ़ कर भाग लिया था या लूटपाट की थी उनका हश्र कोई अच्छा नहीं हुआ था। गांव का समाज स्थिर समाज होता है और सबके सामने एक-दूसरे के कर्मों का लेखा-जोखा होता है। कुछ भी हो, वक्त के साथ मुस्लिम परिवारों के साथ जो कुछ हुआ था उसका लोगों को बड़ा मलाल था। जिन लोगों ने उस कुकर्म में हिस्सा लिया था, कुदरत ने भी उनके साथ कोई कसर न छोड़ी थी। यूं भी बुजुर्गों में दिल के किसी कोने में उस काली रात के बारे में बड़ा मलाल था।

गांव का समाज स्थिर समाज होता है और सबके सामने एक-दूसरे के कर्मों का लेखा-जोखा होता है। कुछ भी हो, वक्त के साथ मुस्लिम परिवारों के साथ जो कुछ हुआ था उसका लोगों को बड़ा मलाल था। जिन लोगों ने उस कुकर्म में हिस्सा लिया था, कुदरत ने भी उनके साथ कोई कसर न छोड़ी थी। यूं भी बुजुर्गों में दिल के किसी कोने में उस काली रात के बारे में बड़ा मलाल था।

खुद मेरे पिताजी ने इस बात को कबूला कि हालांकि वह उस कांड में शामिल नहीं थे, उस शाम अगर वो उस बुराई के खिलाफ उठ खड़े होते तो शायद वो जघन्य कांड न हो पाता।

लोगों के विचारों में बदलाव आ चुका था और नेकी नंबरदार को गांव के मौजिज लोगों को बुला मामले को निपटाने में किसी प्रकार का कोई जोखिम नज़र नहीं आया। अगले दिन सुबह गांव के मौजिज लोग नेकी नंबरदार की हवेली में इकट्ठे हुए। मामले की रोचकता को देखते हुए औरतें-बच्चे भी जमा थे। पंचायत के सामने नेकी नंबरदार ने सारी बात का खुलासा किया। लोग चकित थे। इमराना को बुलाया गया। वह अपने पति व बेटी के साथ हाज़िर हुई। सब लोगों के बीच में नेकी नंबरदार की पत्नी ने गहनों का संदूक इमराना की झोली में डाल दिया।

बड़ा नूर व सुकून था सिमरन ताई के चेहरे पर जब उसने इमराना को गहनों का संदूक दिया।

सब लोगों के सामने गहनों का संदूक खोला गया। संदूक सोने व चांदी के गहनों से भरा था। कंठी, गलसरी, मटरमाला, चूड़ियां, टीका, अंगूठी आदि के कई सैट संदूक में भरे थे। अख्तर के परिवार की सारी औरतों के गहने इस संदूक में थे जो इमराना को सौंप दिए गए।

इमराना गांव के लोगों के प्यार और नेकनीयती देखकर भावुक हो गई। उसकी आंखों में अश्रुधारा बह निकली। वह सिमरन ताई से लिपट कर बेटी की तरह सुबक रही थी। इमराना की आंखों से निकलती वो अश्रुधारा गांव के चेहरे पर कहीं अतीत में पुती कालिख को धोने के लिए बेताब थी। •

पूरन मुद्गल की कविताएं

जलती बुझती मशाल

उगते रहे काले घुप अंधेरे
लेकिन
सदियों पुराने सूरज से बच पाना मुश्किल
कुछ देर के लिए/जब
खुद ही छिप जाता सूरज
तुम्हारा चेहरा खिल उठता
तभी/किसी झाड़ी से निकलती
एक जुगनू किरण
या
बीड़ी सुलगाते व्यक्ति की
तीली से उठती लघुकाय मशाल
तुम परेशान हो उठते
धीरे-धीरे
बहुत सी जुगनू-किरणें
रोशनी का जाल बुनती
संकेत करतीं
उन चमकीली तीखी किरणों का
जो कुछ पल पहले अस्त हुईं!

फिर सब कुछ उल्ट जाता
अंधेरे से लड़ती
कमरे की बिजली अचानक
गुल हो जाती
और दिखाई देते
अंधेरे के कई रंग
सूरज की गैरहाजरी में
हजार-हजार जुगनुओं का जमा होना
जग-बुझ जग-बुझ होती लाचार रोशनी
नहीं बन सकी महाज्वाल

और बीड़ी सुलगाते लोग
खुद ही बुझा देते
छोटी-छोटी मशालें
अपनी उंगली जलने के भय से। •

बहरापन

लेटने का मतलब कभी रहा होगा
आराम करना
और विस्फोट न होने का अर्थ
शांति

तुम लेटे हुए भी हो
और बाहर किसी गोली की आवाज भी नहीं
हुई
लेकिन तुम्हारे भीतर चल रही है अनेक मारक गोलियां
तुम्हें यह भी ध्यान नहीं
कि बाल्कनी में
अभी एक चिड़िया आ बैठी है
तुमने उस बच्चे की तुतलाती बोली नहीं सुनी
जो तुम्हारे करीब खड़ा है
कल से तुम्हारी जेब में रखा
प्रेमिका का पत्र नहीं पढ़ पाए तुम!

भीतर के धमाकों में खो गई है
चिड़िया
बिखरे बालों वाले बच्चे का मासूम चेहरा
प्रेमिका का खत

अपनी बंबई हो या बोस्निया
अज़रबैजान या आर्मीनिया
उनकी इकट्ठी हुई चीखें
काफी हैं तुम्हें बहरा बनाने को

फिर तुम नहीं सुन पाते-
चिड़िया का गीत
बच्चे की फरमाइश
प्रेमिका का अभिसार-संकेत
तुम्हारे लिए बेमानी हो जाता है-
सुर्योदय
पहाड़ से उतरती नदी की पायल का मर्मर स्वर/और
खेत में अंकुरित होता गेहूं का दाना! •

जीवाश्म होने तक

तुम मोहंजोदडो हो गए
तो क्या हुआ
वक्त ने धूल के दुशाले
डाल दिए तुम पर
इससे क्या!

वर्षों तक
मैंने तुम्हारा पीछा किया
तुम उठे तो-
किंतु
संवाद की कोई नदी
हमें छूकर नहीं गुजरी-
तुम्हारे साथ दफन भाषा का

कोई व्याकरण नहीं रचा गया
तभी तो तुम दिखाते हो-
एक चिड़िया का चित्र
किसी मछली की आकृति
या टूटे बर्तन का किनारा-

चिड़िया वैसी ही
जो आज भी मेरे कमरे में
घोंसला बनाने के लिए तिनका उठाए है
मछली वही
जो पानी के बिना तड़पती है
टूटे प्याले पर
प्यास के निशान हू-ब-हू वैसे
जो आज भी मेरे होठों पर अंकित हैं

इसलिए तुम मरे नहीं,
तुम मुझ में जीवित हो
जब तक कि मैं मोहजोदड़ो नहीं बन जाता

इससे पहले कि मैं जीवाश्म बनूं
मैं देखना चाहता हूं-
चिड़िया का एक सुरक्षित नीड़
साफ पानी में तैरती मछली
और
एक मरे प्याले से छलकती तृप्ति का अहसास•

आकाश के थोड़ा निकट

धूप अभी ढली नहीं है
घर के कंगूरों पर/पुता है उसका रंग
नीम की फुनगी
और/अबाबील के पंख
सिंदूरी हो गए हैं
तुम सीढ़ियां चढ़ो/तो
धूप तुम्हें भी छू लेगी

यह बासंती धूप
तुम्हारे मासूम बचपन की गंध से सराबोर
और/यौवन के उन्माद से बहकी
तुम्हारे पके बालों में
सुनहरी रंग भरने के लिए
अभी छत पर ठहरी है
सूर्यवीणा के रश्मि तार
तुम्हारी शिथिल उंगलियों को
छू लेंगे खुद ब खुद/सुनाई देगी एक मधुर झंकार
बस तुम्हें केवल
ऊपर उठ कर
आकाश के थोड़ा निकट होना है। •

सम्पर्क-92531-00377

कहानी

अपराधी

❑डा. दिनेश दधीचि

पार्क में पेड़ प्रतीक्षा कर रहे हैं और पौधे बालकों की तरह ठुनक रहे हैं। इन दिनों पेड़ पौधों को तीखी भूख लगने से पूर्व ही, पूर्व दिशा से उभर कर आने वाली सुनहरी थाली सामने आ जाती है। फिर भी उन्हें आहार की प्रतीक्षा तो रहती है। इधर निकुंज बाबू अपने घर से निकल पड़े हैं। सुबह सवेरे घर के भीतर बैठे रहने से उन्हें भी पौधों जैसी ही बेचैनी होने लगती है। उन्हें अपने बीच पा कर पेड़-पौधे आश्वस्त होते हैं। उनका आहार उन्हें मिलता है तो वे खिलखिलाते हैं। इन दिनों यानी मार्च-अप्रैल में वे खूब खिलखिलाते हैं। निकुंज बाबू अपने नितांत निजी संसार में आ पहुंचे हैं। गिलहरियां, चिड़ियां, तोते, गुलाब, गेंदा और ऐसे अनेक फूल और परिंदे जिनके नाम उन्हें मालूम नहीं हैं - इन सबके बीच इन के साथ अपने विशेष रिश्ते का एहसास उनका भी संबल है। उसी तरह जैसे बालकों-से ठुनकने वाले पौधों को रोज़ सुबह उनका इंतजार रहता है।

निकुंज बाबू के दिन की इस शुरुआत से ऐसा न समझें कि यह वरिष्ठ नागरिक दुनिया की सच्चाइयों से बेखबर रहता होगा, बल्कि उनकी दिनचर्या का अगला कदम अख़बार पढ़ना ही है। बहरहाल, अप्रैल के जिस दिन का हम ज़िक्र कर रहे हैं, वह और दिनों की अपेक्षा कुछ ज़्यादा ही यादें लेकर आया है। उस ज़माने की यादें जब उनकी ज़िन्दगी घटनाओं और एक्शन से भरपूर थी। अब यह भी उन्हें याद नहीं आ रहा कि स्मृतियों की इस बरसात की पहली बूंद ने कैसे उन्हें छुआ था। दिमाग़ पर थोड़ा जोर दे कर सोचा तो उन्हें याद आया कि अख़बार पर तारीख पढ़ते हुए उनकी यादों में जीवन के वसंत का वह दिन लौट आया जब वे स्कूल में पढ़ते थे। उनकी कक्षा में गरिमा नाम की एक लड़की थी, जिसका नाम बताने का वैसे कोई मतलब नहीं, क्योंकि इस नाम से उन्होंने उसे कभी बुलाया ही नहीं। वे तो हमेशा उसे 'मोटी' ही पुकारते थे। ऐसे नामों के लिए कोई तर्क हो भी सकता है, पर अक्सर ये यूं ही व्यक्तित्व को परिभाषित-सा करने वाले चिढ़ाने के निश्चित तरीके के रूप में इस्तेमाल होते हैं। गरिमा इस नाम से ख़ास तौर पर इसीलिए चिढ़ती भी थी।

एक बार उसने निकुंज से एक किताब मांग कर ली। तीन दिन बाद जब पुस्तक वापस आयी, तो भीतर के मुखपृष्ठ पर छपे हुए कुछ अक्षरों के नीचे पैंसिल से लिखी कुछ संख्याओं पर निकुंज की नज़र पड़ी। एक से चौदह तक। यह कोई संकेत या संदेश था। संख्याओं के क्रम से उसने अक्षरों को जोड़ा। संदेश अंग्रेज़ी में धन्यवाद का था, यानी टी-एच-ए-एन-के-एस-टी-ओ-एन-आई-के-यू-एन-जे, 'निकुंज को धन्यवाद'। इसके लगभग दो सप्ताह बाद की बात है। निकुंज ने नोट-बुक में एक पृष्ठ खोल कर गरिमा की ओर वह नोट-बुक बढाई। 'क्या है?' उसने पूछा। 'ख़ुद देख लो। आज मैं तुम्हारी बुद्धि की परीक्षा के लिए एक नया रोचक खेल लाया हूं।' गरिमा ने देखा - सामने पृष्ठ पर कुछ खाली वर्गाकार आकृतियां कतार में बनी हुई थीं और उन रिक्त स्थानों के ऊपर अलग-अलग संख्याएं लिखी हुई थीं-- 1-16-18-9-12-6-15-15-12। तर्कहीन, बिना किसी क्रम के। निकुंज ने अनुभव किया कि थोडी उत्सुकता जाग रही है, तो आगे बोला, 'इन रिक्त स्थानों को भर सको, तो तुम्हें पता चल जाएगा कि मैं तुम्हें क्या बनाना चाहता हूं।' फिर दो क्षण रुक कर बोला, 'तुम्हारी मदद के

लिए एक संकेत दूं?' इस तरह चुनौती के बाद प्रलोभन भी प्रस्तुत कर दिया। कुछ देर सोचने के बाद गरिमा ने पूछा, 'हां, बताओ। बस, संकेत करना; उत्तर मत बताना।' 'देखो, इसका तरीका कुछ-कुछ वैसा ही है, जैसा तुमने मेरी इंग्लिश की रीडर के टाइटल पेज पर अपनाया था।' फिर थोड़ा रुक कर उसने जोड़ा, 'मैंने तो एकदम इसका उत्तर खोज लिया था।' गरिमा को चिढ़ाने के लिए इतना काफी था। आज निकुंज इतना सचेत था कि उसे 'मोटी' कह कर बुलाने से बच रहा था। लेकिन इस बात पर गरिमा का ध्यान ही नहीं गया। पेंसिल लेकर वह खाली स्थान भरने में जुट गई। तरीका सीधा-सादा था--'एक' के लिए 'ए', 'दो' के लिए 'बी', 'तीन' के लिए 'सी' और इसी तरह 'छब्बीस' के लिए 'ज़ेड' इस तरह अक्षर भरने थे। इस बीच निकुंज ने कहा कि इन वर्गों को क्रम से भरना ज़रूरी नहीं है, तो गरिमा का काम और भी आसान हो गया। लेकिन एक बार सारे अक्षर भरने के बाद उसने जो पढ़ा, तो ए-पी-आर-आई-एल-? फ़-ओ-ओ-एल यानी 'april fool' पढ़ते ही वह उसी पेंसिल को हथियार बना कर निकुंज की ओर लपकी, लेकिन वह 'मोटी', 'मोटी' कह कर उसे चिढ़ाता हुआ भागा। ज़्यादा दूर नहीं, क्योंकि पीछे मुड़ कर उसे गरिमा का गुस्से से भरा चेहरा, हंसी और नाराज़गी के मिले-जुले भाव व्यक्त करती उसकी आंखें भी तो देखनी थी।

बात तो छोटी-सी थी, पर निकुंज को उन आंखों में गुस्सा कुछ ज्यादा और हंसी बहुत थोड़ी दिखाई दी। फिर उसने निकुंज को कुछ ऐसा कह दिया, जिसे वह आज तक भूल नहीं पाया है। 'यही बनाओगे तुम मुझे! और तुमसे उम्मीद भी क्या की जा सकती है ?' यूं कहा गया, मानो अपने आप से कहा हो। इसके बाद वह पांच-छः रातों तक ठीक से सो नहीं पाया था। गरिमा की आंखों का वह अचानक बुझा-बुझा भाव और उसकी वह निराशापूर्ण आत्मालाप जैसी टिप्पणी उसके मन को कई दिनों तक पल-पल सालते रहे।

इससे पहले भी एक बार खेल-खेल में उसने कुछ बच्चों के साथ मिल कर एक योजना बनाई थी। दरअसल, रोहित को कचरे के ढेर में लोहे का एक खोल मिला था, जिसके आगे लेंस लगा था। संभवत: किसी वाहन के आगे रोशनी के लिए बनाया गया होगा। बच्चों ने उसे अपनी कल्पना से कैमरा मान लिया। फिर निकुंज ने योजना बनाई, जिसके अनुसार गरिमा को बुला कर वह जादू का कैमरा दिखाया गया। थोड़ी-सी कोशिश से निकुंज ने उसे फोटो खिंचवाने के लिए तैयार कर लिया। वह कुर्सी पर बैठी और रोहित अपने 'कैमरे' के साथ उसके सामने छह फीट की दूरी पर खड़ा हो गया। निकुंज कुर्सी के पीछे था और तीन-चार लड़के-लड़कियां जादू का खेल देखने के लिए मौजूद थे। कैमरे में कुछ क्षण झांकने के बाद योजना के अनुसार रोहित ने कहा, 'गरिमा, तुम ज़रा एक बार खड़ी हो जाओ और कैमरे के लेंस पर नज़र टिकाये रखो।' गरिमा ने निर्देश का पालन किया। 'ठीक है,' रोहित बोला, 'अब तुम इसी तरह लेंस पर नज़र टिकाये हुए बैठ जाओ।' ज्यों ही गरिमा ने बैठना चाहा, धड़ाम से फर्श पर गिरी, क्योंकि कुर्सी निकुंज ने पीछे से चुपचाप खिसका ली थी। फिर तो 'मोटी', 'मोटी' का शोर हुआ और बच्चों ने हंस-हंस कर इस तमाशे का खूब आनंद लिया। उस दिन भी गरिमा ने गुस्से से आंखें तरेर कर निकुंज को देखा था। हंसते-हंसते अचानक वह चुप-सा हो गया था। उन आंखों के दर्द और अपमान के भावों ने उसे तीन-चार रातों तक सोने नहीं दिया ।

'एप्रिल फूल' वाली घटना के बाद एक और छोटी-सी घटना हुई थी, जो पहले वाली घटनाओं की तरह योजनाबद्ध नहीं थी, बल्कि अचानक हो गयी थी। स्कूल में वार्षिक समारोह की तैयारी पूरी हो चुकी थी और कार्यक्रम की अंतिम रिहर्सल प्राचार्य के सामने प्रस्तुत करने के लिए सब बच्चे तैयार थे। नीली फ्राक और सफ़ेद ब्लाउज में गरिमा खुश थी। टीचर से अनुमति लेकर वह पानी पीने नल की ओर गयी, तो वहां निकुंज खड़ा था। जैसा बच्चे अक्सर करते हैं, पानी पीकर गरिमा ने पानी के छींटे उसके कपडों पर डाल दिए। निकुंज के हाथ में एक फाउंटेन पेन था, जो उसे दो दिन पहले ही उपहार में मिला था। उसने आव देखा न ताव, तुंरत प्रतिशोध के लिए नीली स्याही के छींटे गरिमा के कपड़ों पर डाल दिए। बाद में टीचर के बार-बार पूछने और डांटने पर भी उसने निकुंज का नाम नहीं बताया था। पर उसकी आंखों में जो खामोशी और पीड़ा का भाव था, वह इतना मर्मस्पर्शी था कि निकुंज उन आंखों के बिम्ब को महीनों तक मन से हटा नहीं पाया था। उसका किसी काम में मन नहीं लगता था। उस दिन के बाद उसने कभी गरिमा को 'मोटी' नहीं कहा। कहता भी तो कैसे ? गरिमा ने तो उसके बाद उससे कभी बात ही नहीं की।

उस दिन को याद कर के निकुंज बाबू की आंखें सजल हो आयीं। यह अचरज की बात थी। इस घटना को आधी सदी से भी ज्यादा अरसा हो गया था। अगर वह किसी को यह सब सुनाएं, तो आज उनकी आंखों का सजल होना कोरी भावुकता ही कहलायेगा। पर उनके मन में चुभे हुए कांटे की-सी यह पीड़ा पुरानी पड़ती ही नहीं।

निकुंज बाबू के हाथ में अख़बार अभी तक यूं ही था। इसी पर अप्रैल की तिथि पढने के बाद वे यादों में खो गए थे। अपने आप को ज़रा संभाल कर उन्होंने अख़बार की ख़बरों पर सायास ध्यान केन्द्रित करना चाहा। तीसरे पृष्ठ पर एक समाचार ने बरबस उनका ध्यान आकृष्ट किया। किसी युवती को राह चलते रोक कर एक युवक ने उसके चेहरे और कपड़ों पर तेजाब डालने का प्रयास किया था। निकुंज बाबू सोच में डूब गए। स्याही और तेजाब में फ़र्क होता है, लेकिन फ़र्क सिर्फ पीड़ा, नुकसान या अपमान का ही नहीं होता। वह तो सब की समझ में आ ही जाता है। एक और बहुत महीन अंतर भी होता है। कोरी भावुकता से बच कर रहना एक स्थिति है और निहायत संवेदनहीन हो जाना दूसरी स्थिति। व्यवहार में हम दोनों का अंतर नहीं बनाये रख सकते हैं। हमें देखना चाहिए कि हम सजल आंखों वाली भावुकता से बचे रहने की सावधानी में अनजाने ही भीतर से बिलकुल निर्मम और संवेदनारहित तो नहीं होते जा रहे हैं। निकुंज बाबू उस अपराधी युवक की बात फिलहाल नहीं सोच रहे हैं, जिसे अपराधी के रूप में पहचान लिया गया है। वे तो हमारे-आपके जैसे उन लोगों की बात सोच रहे हैं, जो अख़बार से मिली इस सूचना को ग्रहण करेंगे और किसी भी तरह की भावुकता से बच कर रहेंगे।

सम्पर्क-9354145291

प्रेमचंद अपनी नज़र में

(कोई रचनाकार-कलाकार स्वयं को कैसे देखता है। यह जानना कम दिलचस्प नहीं होता। यह भी सही है कि किसी लेखक को सिर्फ उसके साहित्य से नहीं जाना जा सकता। 1934 में इंद्रनाथ मदान को लिखे गए ये पत्र विभिन्न विषयों पर प्रेमचंद की राय उन विषयों और स्वयं प्रेमचंद को समझने में मदद करते हैं।)

प्रिय इंद्रनाथ जी,

एस्लेनेड रोड, बम्बई

7 दिसम्बर 1934

अब मैं आपके प्रश्नों पर आता हूं।

1. अपने घर की मेरी बचपन की स्मृतियां बिल्कुल साधारण हैं, न बहुत सुखी न बहुत उदास। मैं आठ साल का था, तभी मेरी मां नहीं रही। उसके पहले की मेरी स्मृतियां बहुत धुंधली हैं, कैसे मैं बैठा अपनी बीमार मां को देखता रहता था, जो उतनी ही मुहब्बती और मौका पड़ने पर उतनी कठोर थीं, जितनी कि सब अच्छी मांएं होती हैं।

2. मैंने उर्दू साप्ताहिकों में और फिर मासिकों में लिखना शुरू किया। लिखना मेरे लिए बस एक शौक की चीज थी। मुझे सपने में भी ख्याल न था कि मैं आखिरकार एक दिन लेखक बनूंगा। मैं सरकारी मुलाजिम था और अपनी छुट्टी के वक्त लिखा करता था। उपन्यासों के लिए मेरे अंदर एक न बुझने वाली भूख थी, जो कुछ मेरे हाथ लगता, मैं चट कर जाता, उसमें कोई भले-बुरे का चुनाव करने की तमीज मेरे अंदर न थी। मेरा पहला लेख सन् 1901 में और मेरी पहली किताब सन् 1903 में छपी। इस साहित्य-रचना से मुझे अपने अहंकार की तुष्टि के अलावा और कुछ न मिलता था। पहले मैं समसामयिक घटनाओं पर लिखता था फिर अपने वर्तमान और अतीत के वीरों के चरित्रों के स्केच। 1907 में मैंने उर्दू में कहानियां लिखना शुरू किया और सफलता से प्रोत्साहित होकर लिखता रहा। 1914 में दूसरों ने मेरी कहानियों के अनुवाद किए और वह हिन्दी पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई। फिर मैंने हिन्दी सीख ली और सरस्वती में लिखने लगा। उसके बाद मेरा 'सेवासदन' निकला और मैंने अपनी नौकरी छोड़ दी और स्वतंत्र साहित्यिक जीवन बिताने लगा।

3. नहीं, मेरा किसी से कोई प्रणय नहीं हुआ। जिन्दगी बहुत उलझाने वाली थी और रोटी कमाना इतना कठिन काम कि उसमें रोमांस के लिए जगह न थी। कुछ बहुत छोटे-छोटे मामले थे जैसे कि सब के होते हैं, पर मैं उन्हें प्रेम नहीं कह सकता।

4. स्त्री का मेरा आदर्श त्याग है, सेवा है, पवित्रता है, सब कुछ एक में मिला-जुला--त्याग जिसका अंत नहीं, सेवा सदैव, सहर्ष और पवित्रता ऐसी कि कोई कभी उस पर उंगली न उठा सके।

5. मेरे दाम्पत्य जीवन में रोमांस जैसी कोई चीज नहीं है, बिल्कुल साधारण ढंग की चीज है। मेरी पहली स्त्री का देहांत 1904 में हुआ, वह एक अभागी स्त्री थी, तनिक भी सुदर्शन नहीं और यद्यपि मैं उससे संतुष्ट नहीं था तो बिना शिकवा-शिकायत निभाये चल रहा था जैसे कि सब पुराने पति करते हैं। वह जब मर गयी तो मैंने एक बाल विधवा से विवाह किया और उसके साथ काफी सुखी हूं। उसमें कुछ साहित्यिक अभिरूचि आ गई है और वह कभी-कभी कहानियां लिखती है। वह एक निडर, साहसी, समझौता न करने वाली, सीधी-सच्ची स्त्री है, दोष की सीमा तक दायित्वशील और अत्यधिक भावुक। वह असहयोग आंदोलन में शरीक हुई और जेल गयी। मैं उसके साथ सुखी हूं। ऐसी कोई चीज उससे नहीं मांगता, जो वह नहीं दे सकती। टूट भले जाए पर आप उसे झुका नहीं सकते।

6. जिंदगी मेरे लिए हमेशा काम रही है, काम, काम, काम! मैं जब सरकारी नौकरी में था तब भी अपना सारा समय साहित्य को देता था। मुझे काम करने में मजा आता है। पस्ती के क्षण आते हैं जब पैसे की समस्या आ खड़ी होती है वरना मैं अपने भाग्य से बहुत संतुष्ट हूं, अपने प्राप्य से अधिक मुझे मिला। आर्थिक दृष्टि से मैं असफल हूं, व्यवसाय मैं नहीं जानता और तंगी से मुझे कभी छुटकारा नहीं मिलता। मैं कभी पत्रकार नहीं रहा, लेकिन परिस्थितियों ने मुझे जबरन बनाया और जो कुछ मैंने साहित्य में कमाया था, जोकि बहुत नहीं था, सब पत्रकारिता में गंवा दिया।

7. कथानक मैं इस दृष्टि से बुनता हूं कि मानव चरित्र में जो कुछ सुंदर है, मर्दाना है, वह उभरकर सामने आ जाए। यह एक उलझी हुई प्रक्रिया है, कभी इसकी प्रेरणा किसी व्यक्ति से मिलती है या किसी घटना से या किसी स्वप्न से, लेकिन मेरे लिए जरूरी है कि मेरी कहानी का कोई मनोवैज्ञानिक आधार हो। मैं मित्रों के सुझावों का सदैव सहर्ष स्वागत करता हूं।

8. मेरे अधिकांश चरित्र वास्तविक जीवन से लिए गए हैं गो उन्हें काफी अच्छी तरह पर्दे में ढंक दिया जाता है। जब तक किसी चरित्र का कुछ आधार वास्तविकता में न हो तब तक वह छाया-सा अनिश्चित-सा रहता है और उसमें विश्वास पैदा करने की ताकत नहीं आती।

9. मैं रोमों रोलां की तरह नियमित रूप से काम करने में विश्वास करता हूं।

10. हां, मेरा गोदान जल्दी ही प्रेस में जा रहा है, वह लगभग छः सौ पृष्ठों का होगा।

आपका
प्रेम चंद

-2-

प्रिय श्री इंद्रनाथ जी,

168, सरस्वती सदन, दादर,

बम्बई-14

26 दिसम्बर 1934

आपका 16 तारीख का खत पाकर खुशी हुई। आपके सवालों के जवाब उसी क्रम में नीचे देने की कोशिश करता हूं-

1. मेरी राय में 'रंगभूमि' मेरी कृतियों में सबसे अच्छी है।

2. मेरे हर उपन्यास में एक आदर्श चरित्र है, जिसमें मानव दुर्बलताएं भी हैं और गुण भी मूलत: आदर्श। प्रेमाश्रम में ज्ञानशंकर है, रंगभूमि में सूरदास है। उसी तरह कायाकल्प में चक्रधर है, कर्मभूमि में अमरकान्त है।

3. मेरी कहानियों की कुल संख्या लगभग ढाई सौ है। अप्रकाशित कहानियां मेरे पास एक भी नहीं है।

4. हां मेरे ऊपर टाल्सटाय, विक्टर ह्यूगो और रोमे रोलां का असर पड़ा है। जहां तक कहानियों की बात है, शुरू में उनकी प्रेरणा मुझे डाक्टर रविन्द्रनाथ से मिली थी। पीछे मैंने स्वयं अपनी शैली का विकास कर लिया।

5. मैंने कभी संजीदगी से नाटक लिखने की कोशिश नहीं की। मैंने एक-दो कथानकों की कल्पना की जोकि मेरे विचार में नाटक के लिए अधिक उपयोगी हो सकते थे। नाटक का महत्व समाप्त हो जाता है, अगर उसे खेला न जाए। हिन्दुस्तान के पास रंगमंच नहीं है, विशेषत: हिन्दी और उर्दू के पास। रंगमंच के नाम का मुर्दा पारसी स्टेज है जिसके नाम से मुझे हौल होता है। इसके अलावा मैं कभी नाटक की टेकनीक और रंगमंच की कला के सम्पर्क में नहीं आया। इसलिए मेरे नाटक सिर्फ पढ़े जाने के लिए थे। क्यों न मैं अपने उपन्यासों से ही चिपका रहूं, जिनमें मुझे नाटक से कहीं ज्यादा गुंजाइश अपने चरित्रों के उद्घाटन के लिए मिलती है। इसीलिए मैंने अपने विचारों के वाहन के रूप में उपन्यास को पसंद किया है। अब भी मुझे उम्मीद है कि एक-दो नाटक लिखूंगा। जहां तक आर्थिक सफलता की बात है, हिन्दी या उर्दू में यह जिन्स ढूंढे से नहीं मिलती। आप बदनाम हो सकते हैं पर आर्थिक रूप से स्वतंत्र किसी प्रकार से नहीं। हमारी जनता में किताबें खरीदने की कमजोरी नहीं है, एक तरह की मुर्दानी, उदासीनता, सुस्ती और बौद्धिक आलस्य छाया हुआ है।

6. सिनेमा में साहित्यिक व्यक्ति के लिए कोई जगह नहीं। मैं इस लाइन में यह सोचकर आया कि इसमें आर्थिक रूप से स्वतंत्र हो सकने का कुछ मौका था, लेकिन अब मैं देखता हूं कि मैं धोखे में था और मैं वापस अपने साहित्य को लौटा जा रहा हूं। सच तो यह है कि मैंने लिखना बंद नहीं किया, उसको मैं अपने जीवन का लक्ष्य समझता हूं। सिनेमा मेरे लिए वैसी ही चीज है, जैसी कि वकालत होती, अंतर इतना ही है कि यह अधिक स्वस्थ है।

7. मैं कभी जेल नहीं गया। मैं कर्मक्षेत्र का आदमी नहीं हूं। मेरी रचनाओं ने कई बार सत्ता का आक्रोश जगाया है। मेरी एक-दो किताबें जब्त हुई थीं।

8. मैं सामाजिक विकास में विश्वास रखता हूं। हमारा उद्देश्य जनमत को शिक्षित करना है। क्रांति ज्यादा समझदार उपायों की असफलता का नाम है। मेरा आदर्श समाज वह है, जिसमें सबको समान अवसर मिलें। विकास को छोड़कर और किस जरिए से हम इस मंजिल पर पहुंच सकते हैं। लोगों का चरित्र ही निर्णायक तत्व है। कोई समाज-व्यवस्था नई पनप नहीं सकती, जब तक कि हम व्यक्तिश: उन्नत न हों। कहना संदेहास्पद है कि क्रांति से हम कहां पहुंचेंगे। यह हो सकता है कि हम उनके जरिए और भी बुरी डिक्टेटरशिप पर पहुंचें, जिसमें रंचमात्र व्यक्ति-स्वाधीनता न हो। मैं रंग-ढंग सब बदल देना चाहता हूं पर ध्वंस नहीं करना चाहता। अगर मुझमें पूर्व-ज्ञान की शक्ति होती और मैं समझता कि ध्वंस के जरिए हम स्वर्गलोक में पहुंच जाएंगे तो मैं ध्वंस करने में आगा-पीछा नहीं करता।

9. सर्वहारा वर्ग में तलाक एक आम चीज है। तथाकथित ऊंचे वर्गों में ही इस समस्या ने ऐसा गंभीर रूप ले लिया है। अपने अच्छे से अच्छे रूप में विवाह एक प्रकार का समझौता और समर्पण है। अगर कोई दम्पति सुखी होना चाहते हैं, तो उन्हें एक-दूसरे का लिहाज करने के लिए तैयार रहना चाहिए। ऐसे भी लोग हैं जोकि अच्छी से अच्छी परिस्थितियों में भी कभी सुखी नहीं हो सकते। यूरोप और अमेरिका में तलाक अनहोनी चीज नहीं है। बावजूद सारी कोर्टशिप और आजादी के साथ एक-दूसरे से मिलने-जुलने के। पति-पत्नी में से किसी एक को झुकने के लिए तैयार होना ही पड़ेगा। मैं यह मानने से इंकार करता हूं कि केवल पुरुष ही दोषी है। ऐसे भी उदाहरण हैं जहां स्त्रियां झगड़ा पैदा करती हैं, तरह-तरह की शिकायतों की कल्पना कर लेती हैं। जब यह निश्चय नहीं है कि तलाक से हमारे वैवाहिक जीवन की बुराइयों का इलाज हो जाएगा तो ऐसी हालत में मैं उस चीज को समाज पर लादना नहीं चाहता। यह ठीक है कि ऐसे भी केस हैं जहां तलाक अनिवार्य हो जाता है। मगर 'मेल न बैठना' मेरी समझ में नकचढ़ेपन के अलावा और कुछ नहीं। तलाक जिसमें बेचारी पत्नी के लिए कोई व्यवस्था नहीं है-यह मांग केवल रुग्ण व्यक्तिवाद की ओर से आ सकती है। समता पर आधारित समाज में इस चीज के लिए कोई जगह नहीं है।

10. पहले मैं एक परम सत्ता में विश्वास करता था, विचारों के निष्कर्ष के रूप में नहीं, केवल एक चले आते हुए रूढ़िवाद विश्वास के नाते। वह विश्वास अब खंडित हो रहा है। निस्संदेह विश्व के पीछे कोई हाथ है, लेकिन मैं नहीं समझता कि उसको मानव व्यापारों से कुछ लेना-देना है। उसी तरह जैसे उसे चीटियों या मक्खियों या मच्छरों के झमेलों से कुछ लेना-देना नहीं। हमने अपने आप को जो महत्व दे रखा है, उसके पीछे कोई प्रमाण नहीं है।

मुझे उम्मीद है कि फिलहाल इतना काफी होगा। मैं अंग्रेजी का पंडित नहीं हूं इसलिए मुमकिन है कि मैं जो कुछ कहना चाहता था उसे व्यक्त न कर सका होऊं लेकिन उस पर मेरा कोई वश नहीं है।

आपका
प्रेम चंद

■

(यशस्वी लेखक एवं प्रेमचंद के पुत्र ने जिस रूप में देखा-जाना प्रेमचंद को।)

प्रेम चंद

❑अमृतराय

कैसा था यह आदमी देखने-सुनने में? हड्डियां बहुत चौड़ी। इन हड्डियों पर कभी बहुत काफी मांस था, खासा भरा हुआ, चौड़ा-चकला, रजपूती शरीर था वो जिसकी एक फोटो मिलती है, मय साफे और घनी-घनी लंबी मूछों के....यह देह सदा नहीं रही, चौदह साल की लंबी पेचिश ने उसे चाट डाला, हड्डियों को नहीं चाट सकी। इसलिए हड्डियों का वह कंकाल अंत तक साथ रहा और गवाही देता रहा। उस इमारत की जो किसी जमाने में कंकाल पर खड़ी थी, जिसने कभी बड़े बांकपन के साथ बहुत से थपेड़े झेले थे, बीमारी के, गरीबी और परेशानियों के....जो सारी जिंदगी उन्हीं थपेड़ों को झेलते-झेलते घुल गई, ढल गई, टूट गई....

दुबली देह, असाधारण गोरा, तपे सोने का-सा रंग, नीली आंखें, चौड़ी झुर्रियोंदार पेशानी, जिस पर समय ने हल चलाया था। सुंदर सौमय मुखाकृति, थोड़े लंबे बाल अकसर हवा में उड़ते हुए लंबाई औसत, पहनावा गाढ़े का कुर्त्ता, मिल की धोती, बंगाली बाबू जैसी नफासत से पहनी हुई नहीं, कुछ उटंग ढंग से पहनी हुई, जो घुटनों से सात-आठ इंच नीचे तक ही पहुंचती थी....और पैरों में बकायदा बंददार शू। खासा देहकान, ओल्ड-फैशन्ड आदमी था वो, कपड़े-लत्ते के मामले में नई हवा उसे छूकर भी नहीं गई थी। मुझे नहीं याद है कि मैंने उनके पैरों में कभी चप्पल या पंप जूता देखा हो, सदा वही फीते-वीते से लैस शू जिसे वह इन्तहाई सादगी के साथ, निहायत बेलौस तरीके पर धोती-कुर्ते पर पहनते थे....यह बात सुनकर वह शायद उठाकर बड़ी देर तक हंसते कि कपड़ा महज तन ढांकने के लिए नहीं, अच्छा दीखने के लिए पहना जाता है।

ऐसी थी उस आदमी की सादगी। सादगी को एक फेटिश की, ढकोसले की शक्ल भी दी जा सकती है और दी जाती है। उसे एक या दूसरी आमदनी का जरिया भी बनाया जाता है और जादू-टोने के देश में, जिसमें साईं बाबा लोग धूनी रमाकर और सारे शरीर पर भभूत मलकर करोड़ों लोगों को ठगते फिरते हैं, अतिसाधारण वेश-भूषा का विशेष महत्व भी है। यहां जो जितना ही औघड़ दिखाई दे, जितना ही ज्यादा भगल बनाए, उसकी उतनी ही पूजा होती है। प्रेम चंद की सादगी में भगल बनाने का जुज नहीं था, वह एक सरल, निश्छल आदमी की सादगी थी, जो इस बात को जानता था कि असल बड़प्पन असाधारण बनने में नहीं, साधारण बनने में होता है...

और यही सादगी प्रेमचंद के जीवन की कुंजी है। रहन-सहन, तौर-तरीके, विचार-व्यवहार, हंसना-बोलना सबमें यही सादगी है। प्रेमचंद ने खुद अपनी जिंदगी को एक जगह पर सपाट समतल मैदान कहा है और किसी विषाद के स्वर में नहीं कहा है कि जैसे उन्हें इस बात का अफसोस हो कि उनकी जिंदगी सपाट, समतल मैदान न होकर और कुछ क्यों न हुई। नहीं, बिल्कुल नहीं, वहां भी उनकी बात का अंदाजा यही है कि इस लैंडस्केप का भी अपना विशेष सौंदर्य है, जो लहलहाती हुई खेती का सौंदर्य है। मैं संतुष्ट हूं।

और सभी बातों की तरह प्रेमचंद के काम करने के तरीके में भी वही सादगी है। अपने लेखन कार्य के लिए उन्हें कभी किसी पैराफर्नेलिया की, लवाजमे की जरूरत नहीं पड़ी, न खास तरह का कमरा, न खास तरह का परिवेश, न खास तरह का कागज, न खास तरह का कलम, न खास तरह की कोई सुख-सुविधा, न किसी खास मूड का इंतजार और न लिखने का कोई खास समय, जो है वही सृजन का समय है। बहुत से, बल्कि अधिकांश लेखक होते हैं, जो एक खास वातावरण में, एक खास परिवेश में ही साहित्य-सृष्टि कर सकते हैं, जो अपने कमरे को छोड़कर और कहीं लिख भी नहीं सकते, जो कलम से ही लिख सकते हैं, ब्लू, ब्लैक या रॉयल ब्लयू या हरी या किसी खास रंग की स्याही से ही लिख सकते हैं, चिकने-चिकने लिनने फेस के कागज पर ही लिख सकते हैं और बादामी या खुरदरा कागज देखते ही जिनकी रूह फना हो जाती है, जिनके लिखने का कोई खास समय है, चाहे बहुत सुबह, चाहे रात बहुत बीत जाने पर, निशीथ वेला में, और रहा मूड...उसके तो सौ में निन्यानवे लोग गुलाम हैं, इसलिए उसका तो जिक्र ही बेकार है। प्रेमचंद के साथ ऐसी कोई बात नहीं थी। वह फर्श पर बैठकर, डेस्क सामने रखकर लिखते थे। फाउंटेन पेन से उन्होंने कुछ दस्तखत किए हों तो किए हों वर्ना वह सदा होल्डर से लिखते थे। फुलस्केप कागज या स्कूल वाली सादी कापियां, किसी से भी उनका काम चल जाता था। सवेरे से लेकर दस-ग्यारह बजे रात तक हर समय उनका मूड रहता था और हर समय वो लिखते थे, तमाम बाधाओं के बीच, घर की बाधाएं और मिलने-जुलने वालों की बाधाएं। मगर इन सबसे उनके काम में कोई विघ्न न पड़ता था। मिलने के लिए कोई सज्जन आए तो कलम उठाकर रख दिया गया और फिर उनसे खूब दिल खोलकर, जी लगाकर बातें हो रही हैं, कहकहे लगाए जा रहे हैं और उधर उनकी पीठ फिरी नहीं कि कलम फिर हाथ में आ गया और चल निकला जैसे कोई बात ही न हुई, न कोई आया न गया, न विचारों का सूत्र टूटा न भावों का प्रवाह खंडित हुआ...

प्रेमचंद को कभी ऐसा घर मयस्सर न हुआ, जिसमें सबसे अलग उनके लिखने का कोई एक शांत कमरा हो, जहां से कुछ फूल-पत्ती, कुछ हरियाली नजर आती हो और जहां कोई उनके काम में खलल न डाले। लिहाजा घर के शोर-शराबे से, बच्चों की धमाचौकड़ी, उठा-पटक से उन्हें कतई राहत न मिल पाती थी-पता नहीं बाद में उनको उस चीज की तलाश भी रह गयी हो या नहीं, शायद नहीं, मगर उस सबसे राहत मिले या न मिले, वो थे कि अबाध रूप से अपना काम करते चले जाते थे, वैसे ही जैसे नदी अपने प्रवाह में न जाने कितने रोड़ों-पत्थरों को बहा ले जाती है।

मुझे याद है, हम लोग खास उनके कमरे में उनके सर पर सवार होकर ऊधम करते थे मगर मुझे नहीं याद कि उन्होंने एक मर्तबा भी हम लोगों को कमरे से बाहर भगाया हो। जिंदगी के धौल-धप्पे में काम करने की यह आदत उनके अंदर जन्मजात थी या खुद जिंदगी ने मार-मारकर सिखा दी, कहना मुश्किल है। शायद दोनों ही बातें रही हों, मगर इसमें कोई शक नहीं कि इसमें उनकी जिंदगी का, जिंदगी के हालात का भी बहुत बड़ा हाथ था। नखरे (और यह शब्द मैं किसी बुरे अर्थ में नहीं, छोटी-मोटी सनक या मनमौजीपन के ही अर्थ में इस्तेमाल कर रहा हूं) वहीं चल सकते हैं जहां कोई उनको उठाये और कोई उनको उठा तभी सकता है, जबकि वो इस हालत में हो। जाहिर है कि प्रेमचंद कभी इस हालत में नहीं रहे। उनकी जिंदगी की मीन सपाट और समतल जरूर थी, मगर बलुई थी, कंकरीली थी, उसमें झाड़-झंखाड़ों की कमी नहीं थी। मगर कहीं प्रेमचंद इन नाजरबरदारियों पर आ जाते तो शायद एक पंक्ति भी न लिख पाते। एक-एक पंक्ति लिखने के लिए, रस की एक-एक पतली धार बहाने के लिए उन्हें फरहाद की तरह मुसीबतों के पहाड़ काटने पड़े हैं और इसी में उस आदमी की सच्ची महानता है। यह गौर करने की बात है कि प्रेम चंद अपने-आपको कलम का मजदूर कहते थे और कहते थे कि जिस तरह किसान हाथ में फावड़ा और कुदाल पकड़ता है उसी तरह मैं कलम पकड़ता हूं। कहने में यह बात अजीब जरूर मालूम होती है, मगर सच है कि प्रेमचंद की ये दर्जनों अमर कलाकृतियां लिखी उसी तरह गयी हैं, उन्हीं छोटी-बड़ी दिक्कतों और परेशानियों के बीच और उसी तरह दांत भींचकर जिस तरह कोई गरीब मुंशी अपने सर से कागजात के ढूह को अलग करता है, फर्क बस इतना है कि उस मुंशी के संग प्रेरक शक्ति होती है। रोजी की चिंता और मुंशी प्रेमचंद के संग प्रेरक शक्ति है सृष्टि का, अपने सामाजिक अनुभव को कला रूप देने का, वह दुर्दम आवेग जो अपने लिए राह बना ही लेता है। उस मुंशी के कलम से निकलते हैं इस्तगासे, मैजिस्ट्रेट साहब के फैसले, कुर्की-बेदखली के दस्तावेज और मुंशी प्रेम चंद की कलम से निकलते हैं, गोदान, गबन, कफन, होरी, सूरदास, धनिया, जालपा, सुमन....

प्रेमचंद जल्दी सोने और जल्दी उठने के आदी थे। सुबह उठकर वह घूमने जाया करते थे। दिनभर बैठे-बैठे काम करने वाले के लिए इतनी कसरत जरूरी है और खासकर ऐसे आदमी के लिए जिसका पेट हमेशा के लिए खराब हो गया हो, यही सोचकर उन्होंने घूमना शुरू किया था। घूमकर लौटते और आकर काम पर बैठ जाते। थोड़ी देर बात नाश्ता तैयार होता तो उन्हें बुलाया जाता। नाश्ता करके वह काम पर बैठते तो एक तरह से पूरे दिन के लिए बैठ जाते। (जब उन्हें अपनी किसी नौकरी पर जाना होता-जैसे स्कूल की मास्टरी या 'माधुरी' की संपादकी-याद खुद अपने ही 'हंस' और 'जागरण' के दिनों में, तब तो सवेरे 9-10 बजे घर से निकलना ही पड़ता।) बस, उन कुछ दिनों या महीनों में जब उन्हें घर आने का मौका मिलता, वो बारह बजे तक लिखते। फिर खाना खाकर थोड़ा आराम करते, सोते नहीं, लेटते, दो-तीन घंटा कुछ पढ़ते और फिर शाम होने तक लिखते रहते। शाम को भी उनका कहीं जाने को जी न चाहता और वो चाहते कि लिखने का सिलसिला जारी रखें, मगर अकसर उन्हें ठेल-ठालकर बाहर भगाया जाता। जहां भी जाते जल्दी ही लौट आते और लिखने बैठ जाते। फिर दस बजे रात तक लिखते रहते और कई बार आवाज देने पर खाना खाने के लिए उठते और शायद हर रोज मेरी मां का पहला उलाहना यही होता-तुम्हें खाने के लिए दस बार बुलाया जाता है तो आते हो। पेट का रोना रोते हो और बारह बजे रात को खाना खाना चाहते हो!... और प्रेम चंद डांट खाकर हंस देते, कभी प्रतिवाद न करते। बड़े समझदार आदमी थे।

प्रेमचंद की हंसी बहुत मशहूर है। उतनी खुली हुई बच्चों की-सी भोली, गले में से नहीं, (जैसा कि अकसर तथाकथित 'सभ्य' समाज में होता है!) बल्कि पेट में से उठकर आती हुई हंसी मैंने फिर कभी नहीं सुनी। उनका कहकहा जिसने भी सुना होगा, कभी भूल नहीं सकेगा। बात बहुत पुरानी हो गयी, मगर आज भी जब मैं उनकी हंसी को याद करता हूं तो लाजमी तौर पर मेरे सामने किसी झरने की तस्वीर आती है और झरने की वो जगह जहां पानी से सूरज जैसा सफेद कमल बन जाता है।

ऐसी हंसी नहीं हंस सकता है, जो अंदर-बाहर से एक-सा सादा, एक-सा निश्छल, एक-सा निष्कलुष हो, जिसने कभी सपने में भी किसी का बुरा न चाहा हो, जिसने सदा सबकी भलाई की हो, जिसका अंत:करण समुद्र की तरह पवित्र और शांत हो, जिसने जिंदगी में सुखी रहने का राज जान लिया हो।

प्रेमचंद्र का साहित्यिक जीवन उनके साहित्य में है। प्रेमचंद का घरेलू जीवन किसी मानी में साहित्यिक का जीवन नहीं है, क्योंकि वह किसी भी मध्यमवर्गीय गृहस्थ के जीवन से किसी भी मतलब में भिन्न नहीं है। वह एक अच्छे पड़ौसी, वत्सल पिता और पत्नी को अधिक से अधिक प्रेम और आदर देने वाले पति का जीवन है, जिसके चले जाने पर जिंदगियां हमेशा के लिए सूनी हो जाया करती हैं और जिनकी याद सपने में भी आती है तो आदमी आंसुओं से नहाया हुआ उठता है।

प्रेमचंद के व्यक्तित्व में सबसे मार्के की बात मुझको उनकी सादगी मालूम होती है। उनका कपड़ा-लत्ता, उनकी बोलचाल, लोगों से उनका मिलने-जुलने का ढंग, सब कुछ जैसे पुकार-पुकार कर कहता है-इन्सान को उसके भीतर के खजाने से परखो! उसकी नेकी से, उसकी सच्चाई से, उसकी हिम्मत से, उसके मानव-प्रेम से। असल इन्सान बनावट में नहीं मिलता। लिहाजा मुखौटे को मत देखो तुम, दिल की रग पकड़ो, देखो उस असली चेहरे को जो मुखौटे के पीछे है।

मगर आज तस्वीर कुछ और है। आज अपने साहित्यकारों की जमात में जिधर भी नजर दौड़ाता हूं, उधर मुझको असली चेहरे कम, मुखौटे ज्यादा नजर आते हैं। कुछ ऐसा मालूम होता है जैसे हर आदमी अपनी दुकन जमाने में लगा हुआ है और फिक्र में है कि कैसे उसी की दुकान सबसे ज्यादा धड़ल्ले से चल निकले। लिहाजा फिर उसी तरह अपनी-अपनी इश्तहारबाजी होती है कि मान-मनौअल, चिरौरी-विनती करके अपने ऊपर लेख लिखवाये जाते हैं, खुद ही अपने ऊपर लेख लिखकर दूसरे के नाम से छपवा दिए जाते हैं, या एक ही लेखक अपने एक नाम से अपने दूसरे नाम की प्रशस्ति गाता चलता है! उसी तरह फिर लेखकों की अपनी-अपनी टोलियां बनती हैं, जिनमें एक आदमी महंत बनकर बैठ

जाता है और अपने इर्द-गिर्द चार-छह, दस-बीस चेले-चपाटे इकट्ठा कर लेता है और फिर लाजमी तौर पर एक टोली का दूसरी टोली से महायुद्ध होता है-जिसे होली का हुड़दंग भी नहीं कह सकते, क्योंकि गलत ही सही, उस हुड़दंग में एक मस्ती तो होती ही है-जिसमें सब एक-दूसरे के मुंह पर अच्छी तरह अलकतरा पोतते हैं, सब एक-दूसरे के गले में जूतों की माला डालते हैं। सब एक-दूसरे को गधे पर बिठाकर शहर भर में घूमाते हैं और सभी टोलियों की अपनी वानर-सेनाएं अश्लील संकेतों के साथ ताली पीट-पीटकर विरोधी पक्ष की चौदह पीढ़ियों का 'गोत्रोच्चार' करती हैं।

और यह क्यों? इसलिए कि पद हमको मिले, प्रतिष्ठा हमको मिले, पैसा हमको मिले। इन तीन प्रकारों के पीछे सब पागल हैं। कोई राज्य सभा में जाना चाहता है, कोई किसी शिष्टमंडल में भू-परिक्रमा करने का इच्छुक है, कोई किसी आयोग की सदस्यता का अभिलाषी है। इस वक्त कमोबेश हम सभी का कुछ ऐसा ही हाल है। जैसे कुएं में ही भांग पड़ गई हो। मैं अगर कहूं कि मैं दूध का धोया हूं और मेरे अंदर कहीं ऐसी वासना नहीं है तो वह झूठ होगा। और आत्मछलना से बड़ी छलना दूसरी नहीं होती। जो बात सच है, उसको मानना चाहिए। जहां हवा ही कुछ मायावी लास्य दिखला रही हो, वहां साहित्य ही कैसे अछूता बचे! फलतः व्यवसाय को जो कूटबुद्धि हल्दी-नमक-तेल, कपड़े की आढ़त में लगती है, बहुत-कुछ वही साहित्य की आढ़त में भी दिखायी दे रही है। एकदम वही नहीं, बहुत कुछ वही, मूलतः वही, इसलिए कि आज हमारी दृष्टि में, अधिकांशतः साहित्य कोई साधना की चीज नहीं रह गया है और न साहित्यकार, साधक। इस व्यवसाय-युग में आज साहित्य भी एक पण्य वस्तु हो गया है (जैसे बिक्री की और चीजें वैसी ही उनमें एक साहित्य भी) और साहित्यकार केवल उसका बनाने वाला। और दुनिया उसके लिए एक बाजार है जहां उसके ग्राहक डोल रहे हैं। इससे ज्यादा वह कुछ नहीं समझता और न समझना चाहता है। यही वक्त की हवा है। जो लोग साहित्य को साधना समझते हैं, उसके लिए कष्ट उठाते हैं, यातनाएं सहते हैं, मरते खपते हैं, उनको वह दकियानूस समझता है, सिड़ी समझता है, अगले वक्तों का एक अजूबा समझता है, जिसकी माकूल जगह मुर्दों का अजायबघर है। आज तो सबको बहती गंगा में हाथ धोने की पड़ी है।

प्रेमचंद कुछ दूसरे ही ढंग के आदमी थे। यह बात जरूर है कि आज हिन्दी राष्ट्रभाषा बन जाने के बाद, हिन्दी साहित्यकारों के सामने जितने प्रलोभन हैं तब उतने नहीं थे या कहिए कि बिल्कुल नहीं थे, क्योंकि तब तक हिन्दी को किसी तरह की कोई मान्यता नहीं मिली थी। मगर कुछ प्रलोभन तो तब भी थे और हमेशा ही रहते हैं। यह बात और है कि एक आदमी के लिए जो चीज लोभनीय होती है, वह दूसरे आदमी के लिए लोभनीय नहीं होती। एक आदमी का ईमान दस रुपए पर डिग जाता है, दूसरे का दस हजार पर भी नहीं डिगता। इसलिए प्रलोभन क्या है और क्या नहीं, इसकी परीक्षा उस आदमी को बाहर रखकर नहीं की जा सकती, जिसको प्रलुब्ध करने के लिए वह प्रलोभन है।

मिसाल के लिए पिछले दस-पंद्रह बरसों में हमने बहुत से लेखकों को पैसे के लोभ में बंबइया फिल्म के जंगल में भटकते और बरबाद होते देखा है। प्रेमचंद भी एक बार अपनी किन्हीं मजबूरियों के कारण, सन् '34 में, बंबई की फिल्मी दुनिया में पहुंचे थे। उस वक्त उनको एक हजार रुपए मिलता था, जो बहुत ज्यादा न हो मगर बहुत कम भी नहीं था और आज रुपए की कीमत असलियत में जिस तरह गिर गई है, उसको देखते हुए तो उसे काफी बड़ी रकम कहना होगा। मगर तब भी एक बरस के भीतर प्रेमचंद वहां से भाग खड़े हुए। क्यों? क्या इसलिए कि उनको रुपया काटता था या इसलिए कि उनके पास घर पर ही खजाना गड़ा हुआ था या वो इतने भोले थे कि उन्हें पता ही न था रुपया किस काम आता है? नहीं, वो इतने भोले-नादान नहीं थे और न उनके घर पर खजाना गड़ा हुआ था और न रुपया उन्हें काटता ही था। वह भाग इसलिए आए कि उस अजीब दुनिया में जहां एक जाहिल, अनपढ़ डायरैक्टर की बादशाहत होती है, वह निभा नहीं सके और वो निभा इसलिए नहीं सके कि उन्हें किसी कीमत पर अपनी आत्मा का, अपने विवेक का सौदा करना मंजूर न था। उस वक्त की अपनी दिमागी कैफियत उन्होंने अपने कई खेतों में अपने दोस्तों से बयान की है और उससे यह बात साफ जाहिर होती है कि उन्हें अपने गांव में बैठकर नमक-रोटी खाना कबूल था, मगर शान-ओ-शौकत के झूठे दिखावे की उस भूल-भुलैया में खो जाना कबूल नहीं था, भले वहां रोज पुलाव ही क्यों न मिले। और वह क्यों? वह इसलिए कि उस नमक-रोटी के साथ सृजन का काम चल सकता था, क्योंकि वहां मन की शांति है और उस पुलाव के साथ नहीं चल सकता, क्योंकि यहां की मन की शांति नहीं है और उस पुलाव को बचाए रखने के लिए बीस झमेले करने पड़ते हैं और धीरे-धीरे यह नौबत आ जाती है जबकि वह आदमी उस पुलाव को नहीं खाता बल्कि वह पुलाव उस आदमी को खाने लगता है।

और यही वह वजह है जहां पर लेखक को खुद अपने तईं यह तै करना पड़ता है कि वो अपने लेखन को, अपने सृजन को, कितना महत्व देता है। यह लफ्फाजी करने की जगह नहीं, बल्कि दृढ़ मन से, शांत चित से एक निश्चय करने की जगह होती है। अगर आपने मन की आवाज साफ-साफ कहती है कि मेरा सृजन ही मेरा जीवन है और जो भी हो वही सबसे ऊपर रहेगा तो हर हालत में आपका मन उसका उपाय ढूंढ लेगा। मन की शक्ति का अभी तक किसी ने पार नहीं पाया है। लेकिन अगर किसी कारण से आपका मन पैसा, पद, प्रतिष्ठा, यश, प्रभुत्व की ओर ज्यादा भागता है और आपका लेखन, आपका साहित्य-सृजन, उस सबके लिए केवल एक सीढ़ी है तो स्पष्ट ही सबसे आपकी दृष्टि में आपका लेखन गौण हो जाता है-और वहीं, उसी स्थल पर लेखक की अपमृत्यु का बीजारोपण हो जाता है। उसके बाद फिर कहीं रक्षा नहीं है और वह एक अंधी खाई की तरफ बढ़ता हुआ ढाल है, जिस पर आप चल रहे हैं, बल्कि यों कहिए, लुढ़क रहे हैं।

यहीं पर हममें से अधिकांश भूल करते हैं और जब हमारा लेखक, हमारा सर्जक मर चलता है तो हम अपने मनस्तोष के लिए परिस्थितियों की विडंबना का रोना रोने लगते हैं। मैं यह नहीं कहता कि परिस्थितियां बिल्कुल दोषमुक्त हैं मगर मैं यह जरूर कहना चाहता हूं कि सारा दोष परिस्थितियों का नहीं है। कभी, किसी युग

में, किसी लेखक या कलाकार को मनचाही परिस्थितियां नहीं मिलतीं। परिस्थितियों से संघर्ष करने में ही व्यक्तित्व का कमल खिलता है और यही बात लेखक के लिए भी सही है। सृजन में संघर्ष निहित है। संघर्ष गरीबी से, परेशानियों से-जैसे कि प्रेमचंद ने किया। संघर्ष सम्पन्नता की अफीम से, जोकि कम खतरनाक नहीं होती-जैसे कि रविन्द्रनाथ ने किया। और संघर्ष राजसत्ता से, अर्थात् उसके आतंक और उसके प्रलोभनों, दोनों से-जैसे कि प्रेमचंद ने किया और रविन्द्रनाथ ने किया।

प्रेमचंद से ज्यादा मुसीबतें किस लेखक को उठानी पड़ी होंगी, (उनका ब्यौरा देने की जरूरत नहीं है, सबको उनका हाल मालूम है) मगर उनका लेखक नहीं मरा। उन्होंने अपने जीवन के अंतिम पंद्रह वर्षों को छोड़कर सारी जिंदगी सरकारी नौकरी की और अंग्रेज सरकार की-मगर उनका लेखक नहीं मरा। उनकी किताबें जब्त हुई, जलायी गईं, उनके लिखने पर बंदिशें लगाई गईं-मगर तब भी जिंदा रहने का उपाय उन्होंने ढूंढ निकाला। सरकारी नौकरी में रहने के कारण जब वो अपने नाम से नहीं लिख सके तो छद्म नाम से लिखा और वही छद्म नाम आज भी पूजा जाता है। दिनोंदिन जीवन के छोटे-बड़े झंझटों और परेशानियों से उनकी जिंदगी शल थी, मगर तब भी उनका लेखक मरने नहीं पाया। सम्पन्नता की दहलीज पर भी वह एक बार पहुंचे-मगर मुंह मोड़कर चले आए, क्योंकि भीतर का दृश्य बड़ा घिनौना था। राजकीय सम्मान के दरवाजे भी उनके लिए खुलने को हुए- मगर दूर से ही उन्होंने उसको प्रणाम किया, क्योंकि वह गली अच्छी न थी, भले वहां फूलों के गजरे हों, मखमल के गाव तकिये हों।

कभी वे चीजें उनके लिए प्रलोभन न बन सकीं, क्योंकि उनके भीतर लेखक का गहरा आत्म-सम्मान था, सर्जक की आंतरिक गरिमा थी, कलाकार का वह विपुल मानसिक ऐश्वर्य थी, जिसके आगे सोना-चांदी सब मिट्टी है। उन्होंने दृढ़ मन से, शांत चित्त से निश्चय किया था कि मेरा सर्जक सर्वोपरि रहेगा, क्योंकि वही मेरा परम सुख है, वही मुझे जीवित रखेगा, आगे चलकर उसका मूल्य चाहे जो भी ठहरे- और इसीलिए विषम जीवन-परिस्थितियों में भी उनका लेखक, उनका कलाकार मरा नहीं।आज ताकत के उसी सोते को अपने मन के भीतर टटोलने को मेरा जी चाह रहा है।

•

संस्मरण

मेरी पहली रचना

❑प्रेम चंद

उस वक्त मेरी उम्र कोई 13 साल की रही होगी। हिन्दी बिल्कुल न जानता था। उर्दू के उपन्यास पढ़ने-लिखने का उन्माद था। मौलाना शहर, पं. रतननाथ सरशार, मिर्जा रुसवा, मौलवी मोहम्मद अली हरदोई निवासी, उस वक्त के सर्वप्रिय उपन्यासकार थे। इनकी रचनाएं जहां मिल जाती थीं, स्कूल की याद भूल जाती थी और पुस्तक समाप्त करके ही दम लेता था। उस जमाने में रेनाल्ड के उपन्यासों की धूम थी। उर्दू में उनके अनुवाद धड़ाधड़ निकल रहे थे और हाथों-हाथ बिकते थे। मैं भी उनका आशिक था। स्व. हजरत रियाज ने जो उर्दू के प्रसिद्ध कवि थे और जिनका हाल में देहांत हुआ है, रेनाल्ड की एक रचना का अनुवाद 'हरम सरा' के नाम से किया था। उसी जमाने में लखनऊ के साप्ताहिक 'अवध-पंच' के सम्पादक स्व. मौलाना सज्जाद हुसैन ने, जो हास्यरस के अमर कलाकार हैं, रेनाल्ड के दूसरे उपन्यास का 'धोखा' या 'तिलिस्मी फानूस' के नाम से अनुवाद किया था। ये सारी पुस्तकें मैंने उसी जमाने में पढ़ीं। और पं. रतननाथ सरशार से तो मुझे तृप्ति ही न होती थी। उनकी सारी रचनाएं मैंने पढ़ डालीं। उन दिनों मेरे पिता गोरखपुर में रहते थे और मैं भी गोरखपुर के ही मिशन स्कूल में आठवीं में पढ़ता था, जो तीसरा दर्जा कहलाता था। रेती पर एक बुकसेलर बुद्धिलाल नाम का रहता था। मैं उसकी दुकान पर जा बैठता था और उसके स्टाक से उपन्यास ले-लेकर पढ़ता था। मगर दुकान पर सारे दिन तो बैठ न सकता था, इसलिए मैं उसकी दुकान से अंग्रेजी पुस्तकों की कुंजियां और नोट्स लेकर अपने स्कूल के लड़कों के हाथ बेचा करता था और इसके मुआवजे में दुकान से उपन्यास घर लाकर पढ़ता था। दो-तीन वर्षों में मैंने सैंकड़ों ही उपन्यास पढ़ डाले होंगे। जब उपन्यासों का स्टाक समाप्त हो गया, तो मैंने नवलकिशोर प्रेस से निकले हुए पुराणों के उर्दू अनुवाद भी पढ़े, और 'तिलिस्मी होशरूबा' के कई भाग भी पढ़े। इस वृहद तिलस्मी ग्रंथ के सत्रह भाग उस वक्त निकल चुके थे और एक-एक भाग बड़े सुपररायल आकार के दो-दो हजार पृष्ठों से कम न होगा और इन सत्रह भागों के उपरांत उसी पुस्तक के अलग-अलग प्रसंगों पर पचीसों भाग छप चुके थे। इनमें से भी मैंने कई पढ़े। जिसने इतने बड़े ग्रंथ की रचना की, उसकी कल्पना शति कितनी प्रबल होगी, इसका केवल अनुमान लगाया जा सकता है। कहते हैं कि ये कथाएं मौलाना फैजी ने अकबर के विनोदार्थ फारसी में लिखी थीं। इनमें कितना सत्य है, कह नहीं सकता, लेकिन इतनी वृहद् कथा शायद ही संसार की किसी भाषा में हो। पूरी एंसाइक्लोपीडिया समझ लीजिए। एक आदमी तो अपने साठ वर्ष के जीवन में उनकी नकल भी करना चाहे, तो नहीं कर सकता। रचना तो दूसरी बात है।

उसी जमाने में मेरे एक नाते के मामू कभी-कभी हमारे यहां आया करते थे। अधेड़ हो गए थे, लेकिन अभी तक बिन-ब्याहे थे। पास में थोड़ी सी जमीन थी, मकान था, लेकिन धरती के बिना सब कुछ सूना था। इसलिए घर पर जी न लगता था। नातेदारियों में घूमा करते थे और सबसे यही आशा रखते थे कि कोई उनका ब्याह करा दे। इसके लिए सौ दो सौ खर्च करने करो भी तैयार रहते। क्यों उनका ब्याह नहीं हुआ, यह आश्चर्य था। अच्छे खासे हृष्ट-पुष्ट आदमी थे, बड़ी-बड़ी मूंछें, औसत कद, सांवला रंग। गांजा पीते थे, इसमें आंखें लाल रहती थीं। अपने ढंग के धर्मनिष्ठ भी थे। शिवजी को रोजाना जल चढ़ाते थे और मांस-मछली नहीं खाते थे।

आखिर एक बार उन्होंने भी वही किया, जो बिन-ब्याहे लोग अक्सर किया करते हैं। एक चमारिन के नयन-बाणों से घायल हो गए। वह उनके यहां गोबर पाथने, बैलों को सानी-पानी देने और इसी तरह के दूसरे फुटकर कामों के लिए नौकर थी।

जवान थी, छबीली थी और अपने वर्ग की अन्य रमणियों की भांति प्रसन्नमुख और विनोदिनी थी। 'एक समय सखि सुअरि सुंदरि'-वाली बात थी। मामू साहब का तृषित हृदय मीठे जल की धारा देखते ही फिसल पड़ा। बातों-बातों में उससे छेड़छाड़ करने लगे। वह इनके मन का भाव ताड़ गयी। ऐसी अल्हड़ न थी और नखरे करने लगी। केशों में तेल भी पड़ने लगा, चाहे सरसों का ही क्यों न हो। आंखों में काजल भी चमका, ओठों पर मिस्सी भी आयी और काम में ढिलाई भी शुरू हुई। कभी दोपहर को आयी और झलक दिखलाकर चली गयी, कभी सांझ को आयी और एक तीर चलाकर चली गई। बैलों को सानी-पानी मामू साहब खुद दे देते, गोबर दूसरे उठा ले जाते, युवती से बिगड़ते क्योंकर? वहां तो अब प्रेम उदय हो गया था। होली में उसे प्रथानुसार एक साड़ी दी, मगर अबकी गजी की साड़ी न थी। खूबसूरत-सी हवा दो रुपए की चुंदरी थी। होली की त्योहारी भी मामूल से चौगुनी थी। और यह सिलसिला यहां तक बढ़ा कि वह चमारिन ही घर की मालकिन हो गयी।

एक दिन संध्या-समय चमारों ने आपस में पंचायत की। बड़े आदमी हैं तो हुआ करें, क्या किसी की इज्जत लेंगे? एक इन लाला के बाप थे कि कभी किसी मेहरिया की ओर आंख उठाकर न देखा, (हालांकि यह सरासर गलत था) और यह एक हैं कि नीच जाति की बहू-बेटियों पर भी डोरे डालते हैं! समझाने-बुझाने का मौका न था। समझाने से लाला मानेंगे तो नहीं, उल्टे और कोई मामला खड़ा कर देंगे। इनके कलम घुमाने की तो देर है। इसलिए निश्चय हुआ कि लाला साहब को ऐसा सबक देना चाहिए कि हमेशा के लिए याद हो जाए। इज्जत का बदला खून ही चुकाता है, लेकिन मुरम्मत से भी कुछ उसकी पुरौती हो सकती है।

दूसरे दिन शाम को जब चम्पा मामू साहब के घर में आई तो उन्होंने अंदर का द्वार बंद कर दिया। महीनों के असमंजस और हिचक और धार्मिक संघर्ष के बाद आज मामू साहब ने अपने प्रेम को व्यवहारिक रूप देने का निश्चय किया था। चाहे कुछ हो जाए, कुल-मरजाद रहे या जाय, बाप-दादा का नाम डूबे या उतराय!

उधर चमारों का जत्था ताक में था ही। इधर किवाड़ बंद हुए, उधर उन्होंने खटखटाना शुरू किया। पहले तो मामू साहब ने समझा, कोई आसामी मिलने आया होगा, किवाड़ बंद पाकर लौट जाएगा, लेकिन जब आदमियों का शोरगुल सुना तो घबराए। जाकर किवाड़ों की दराज से झांका। कोई बीस-पचीस चमार लाठियां लिए, द्वार रोके खड़े किवाड़ों को तोड़ने की चेष्टा कर रहे थे। अब करें तो क्या करें? भागने का कहीं रास्ता नहीं, चम्पा को कहीं छिपा नहीं सकते। समझ गए कि शामत आ गई। आशिकी इतनी जल्दी गुल खिलाएगी, यह क्या जानते थे, नहीं इस चमारिन पर दिल को आने ही क्यों देते। उधर चम्पा इन्हीं को कोस रही थी-तुम्हारा क्या बिगड़ेगा, मेरी तो इज्जत लुट गई। घर वाले मूड़ ही काटकर छोड़ेंगे, कहती थी, कभी किवाड़ बंद न करो, हाथ-पांव जोड़ती थी। मगर तुम्हारे सिर पर तो भूत सवार था। लगी मुंह में कालिख कि नहीं?

मामू साहब बेचारे इस कूचे में कभी न आए थे। कोई पक्का खिलाड़ी होता तो सौ उपाय निकाल लेता, लेकिन मामू साहब की तो जैसे सिट्टी-पिट्टी भूल गई। बरौठे में थर-थर कांपते 'हनुमान चालीसा' का पाठ करते हुए खड़े थे। कुछ न सूझता था।

और उधर द्वार पर कोलाहल बढ़ता जा रहा था। यहां तक कि सारा गांव जमा हो गया। बाम्हन, ठाकुर, कायस्थ सभी तमाशा देखने और हाथ की खुजली मिटाने के लिए आ पहुंचे। इससे ज्यादा मनोरंजक और स्फूर्तिवर्द्धक तमाशा और क्या होगा कि एक मर्द और एक औरत को एक साथ घर में बंद पाया जाए। फिर वह चाहे कितनी ही प्रतिष्ठित और विनम्र क्यों न हो, जनता उसे किसी तरह क्षमा नहीं कर सकती। बढ़ई बुलाया गया, किवाड़ फाड़े गए और मामू साहब भूसे की कोठरी में छिपे हुए मिले। चम्पा आंगन में खड़ी रो रही थी। द्वार खुलते ही भागी। कोई उससे नहीं बोला। मामू साहब भागकर कहां जाते! वह जानते थे उनके लिए भागने का रास्ता नहीं है। मार खाने के लिए तैयार बैठे थे। मार पड़ने लगी और बेभाव की पड़ने लगी। जिसके हाथ जो कुछ लगा, जूता, छड़ी, छात, लात, घूंसा और अस्त्र चले। यहां तक कि मामू साहब बेहोश गए और लोगों ने उन्हें मुर्दा समझ कर छोड़ दिया। अब इतनी दुर्गति के बाद वह बच भी गए, तो गांव में नहीं रह सकते और उनकी जमीन पट्टेदारों के हाथ आएगी।

इस दुर्घटना की खबर उड़ते-उड़ते हमारे यहां भी पहुंची। मैंने भी उसका खूब आनंद उठाया। पिटते समय उनकी रूपरेखा कैसी रही होगी, इसकी कल्पना करके मुझे खूब हंसी आयी। एक महीने तक तो वह हल्दी और गुड़ पीते रहे। ज्यों ही चलने-फिरने लायक हुए, हमारे यहां आए। यहां अपने गांववालों पर डाके का इस्तगासा दायर करना चाहते थे।

अगर उन्होंने कुछ दीनता दिखाई होती तो शायद मुझे हमदर्दी हो जाती। लेकिन उनका वही दमखम था। मुझे खेलते या उपन्यास पढ़ते देखकर बिगड़ना और रोब जमाना और पिताजी से शिकायत करने की धमकी देना, यह अब मैं क्यों सहने लगा था। अब तो मेरे पास उन्हें नीचे दिखाने के लिए काफी मसाला था।

आखिर एक दिन मैंने यह सारी दुर्घटना एक नाटक के रूप में लिख डाली और अपने मित्रों को सुनाई। सब-के-सब खूब हंसे। मेरा साहस बढ़ा। मैंने उसे साफ-साफ लिखकर वह कापी मामू साहब के सिरहाने रख दी और स्कूल चला गया। दिल में कुछ डरता भी था, कुछ खुश भी था और कुछ घबराया हुआ भी था। सबसे बड़ा कुतूहल यह था कि ड्रामा पढ़कर मामू साहब क्या कहते हैं। स्कूल में जी न लगता था। दिल उधर ही टंगा हुआ था। छुट्टी होते ही घर चला गया। मगर द्वार के समीप पाकर पांव रुक गए। भय हुआ, कहीं मामू साहब मुझे मार न बैठें, लेकिन इतना जानता था कि वह एकाध थप्पड़ से ज्यादा मुझे मार न सकेंगे, क्योंकि मैं मार खाने वाले लड़कों में से न था।

मगर यह मामला क्या है! मामू साहब चारपाई पर नहीं हैं, जहां वह नित्य लेटे हुए मिलते थे। क्या घर चले गए? आकर कमरा देखा वहां भी सन्नाटा। मामू साहब के जूते, कपड़े, गठरी सब लापता। अंदर जाकर पूछा। मालूम हुआ, मामू साहब किसी जरूरी काम से घर चले गए। भोजन तक न किया। मैंने बाहर आकर सारा कमरा छान मारा, मगर मेरा ड्रामा-मेरी वह पहली रचना कहीं न मिली। मालूम नहीं, मामू साहब ने उसे चिरागअली के सुपुर्द कर दिया या अपने साथ स्वर्ग ले गए?

(हंस, दिसम्बर 1935)

रानी कुमारी की कविताएं

उम्मीद

सड़क और चौराहों पर
बीत गई सारी उम्र
कुछ माँगते...
कुछ बेचते...
कभी इधर भागते
कभी उधर भागते
बचाते अपनी जान
ले लो न बाबूजी
आप तो ले लो न मैडम जी
'सिर्फ दस रुपए का है...'
एक उम्मीद के साथ देखता बच्चा
पर
बाबूजी ने हिकारत से देखा
और कहा
''हाथ मत लगाओ...
गाड़ी खराब हो जाएगी!''
सहमा हुआ बच्चा
दूर खड़ा हो गया
देखा उसने दूसरी तरफ
फिर भागा बच्चा...
दूसरी गाड़ी की तरफ
लगाए फिर एक उम्मीद...
एक उम्मीद के पीछे दौड़ते
बीत गई सारी उम्र...

पानी

बहुत तरसाता है पानी
लोगों से दुश्मनी मोल दिलाता है पानी
घर आँगन सब सूना है बिन पानी
रात-रात भर करे इंतजार
कि आएगा पानी
'उनके' लिए झील में पानी
और हमारे लिए ऊंचाई पर पानी
कैसे आएगा भला पानी?
रात की थकान और
सुबह-सुबह पानी के लिए जद्दोजहद
जब लगे कि अब आएगा पानी
तब-तब बिजली गुल
'उनके' धुलते आँगन, चौबारे और
गाड़ियाँ
वो भी मीठे पानी से!
हर बार मन देता, जी भरकर गाली...
पर 'वो' न दे, एक बाल्टी भी पानी
उल्टा हमें डपट लगाए...
''की आ जावें हैं तड़की-तड़की
इन खाली बासना नै लेके
शोन-शामन तड़की-तड़क, लें सब प्रभू
को नाम
और ये हांडे हैं, ढोबरां न ठाए-ठाए''
पर कुछ न कहते...
सुनते रहते उनकी फटकार
बमुश्किल मिलता पानी,
मन रोये
तन भीगे...
वे लें तन की नाप
आँखों का बदलता रंग
और एक कुटिल मुस्कान
हाय, कैसी विपदा है भारी
हाय रे पानी!!

बरसाती पानी

मौसम बदले, पछवा-परवा चले
बादल जब भी करे
उमड़-घुमड़ और
बिजलियां चमकने लगें
तन-मन झूम जाता
बुहार दी जाती छतें
एकदम साफ और चकाचक
जैसे ही बादल बरसे
पतनाल को रोक,
कर दिया जाता इकट्ठा पानी
टंकिया, बाल्टियां लग जातीं
पतनालों के नीचे
चेहरों पर खुशी झलकती...
बच्चे झूमते-गाते,
नहाते बारिश में...
छप-छपाक करते,
शोर मचाते
बड़े भी बच्चे हो जाते
अपनी खुशी जाहिर करने को,
ये देश में किसी,
पिछड़े इलाके का नहीं
दिल्ली में
हमारी बस्तियों का हाल है।

मेरा घर

आज तक
समझ न पाई
कि मेरा घर कौन सा है?
बचपन से लेकर जवानी तक
सुनती रही...
तुझे अगले घर जाना है!
ढंग से चला कर!
ठीक से बैठा कर!
छोटी-छोटी बातों पर
माँ-चाची, हर कोई सिखाता सलीका
आखिरकार...
वो दिन आ गया...
बड़ी नफाशत नजाकत से करती काम
लेकिन
दूसरे घर में
कह दिया जाता
पता नहीं किस खानदान,
किस घर से आई है?

छोटा भाई

छोटा भाई, कभी छोटा नहीं होता
वो जन्म से ही, बड़ा होता है बहनों से
बड़े जतन से पाला जाता है उसको...
क्योंकि वो वंश बेल है घर की...
अनजाने ही मिल जाते हैं भाई को
सारे अधिकार
हर बार भाई को मिलती है विशेष छूट...
छोटा भाई कभी छोटा नहीं होता
चाहे कितना ही निकम्मा और निखद
हो...
और बहनें कसमसाकर रह जाती हैं
हर बार...
वह कितनी ही समझदार और
पढ़ी-लिखी क्यों न हो
भाई सारा दिन बाहर रहे...
या रात भर बाहर रहे
कोई पूछताछ नहीं होती
घर कुनबे को खबर है अपने लाल की
क्या-क्या गुल खिला रहा है भाई
लेकिन
बहनें डर के साये में रहती हैं
कभी बेवजह न पिट जाए
क्योंकि
शक के दायरे में आते ही...
ये भाई...
बाप बन जाते हैं।

नाप

रिश्ते की बात पक्की होते ही...
माँ, भाभी, बुआ, चाची, ताई
हर कोई लगा समझाने मुझे
ओढ़ने-पहनने, खाने-पीने,
हँसी-ठट्ठा, आने-जाने को लेकर
दी जाती हिदायतें...
मुझसे जुड़ा हर फैसला,
होगा अब वहीं से
हमें लड़की के लम्बे बाल पसंद हैं
छोटे-छोटे बालों वाले
हमारे ही बहुत हैं
रिश्तेदारों के यहाँ जाने पर भी
फोन करके ली जाती परमिशन
और विशेष 'हाँ' होने के बाद ही...
मिलती चैन की साँस...

मेरे कपड़ों को लेकर भी
कतर ब्योंत होने लगी...
किस रंग, रूप और
डिजाइन का पहनना है
ये सब वही तय करते
गले छोटे, चाक मीडियम
सूट, लम्बाई में और सलवार भारी
जींस का तो सवाल ही नहीं उठता
वो कहते...
सभ्य घर की लड़कियाँ
सूट सलवार पहनती हैं...
पजामी और लैगिंग्स तो,
सब बेकार हैं!
लगती हैं बेहद भद्दी और फूहड़
इनमें शरीर का दिखता पूरा नाप है
चल रही हैं वहीं से कैंचियां
मेरे कपड़ों पर,
मुझ पर, बार-बार,
लगातार!

अकेली लड़की

अकेला इंसान हर किसी को अखरता है
लेकिन जब बात लड़की की हो!
जब मन और दिमाग,
दोनों हो जाते हैं संकुचित
तरह-तरह के ''एलम घाले'' जाते हैं
तरह-तरह की होती हैं व्याख्याएँ
हर कोई झाँकना चाहता है
अकेली लड़की की दुनिया में...
पड़ोसियों और रिश्तेदारों का
सबसे पसंदीदा होता है ये टॉपिक
लगते हैं ठहाके, कसी जाती हैं फब्तियाँ
लिया जाता है भरपूर रस
वो अकेली लड़की
भाती है सबसे ज्यादा मर्दों को
नया शिकार समझ ''घालते हापले''
किसी तरह बचती बचाती आती है
वो अकेली लड़की...
अकेली लड़की रच लेती है अपना संसार
निर्जीव चीजों से करती है बातें...
रखती है सहेजकर
क्योंकि ये चीजें बहुत कुछ बयां करती है
उसकी हकीकत।

एलम-इल्जाम का अपभ्रंश रूप, घाले-लगाए
घालते हापले - झपट्टा मारना

अजन्मी बेटियों के नाम

बेटे की चाह में अजन्मी ही रह गई कई बेटियाँ
सालों तक उनकी याद न आई,
जब तक गोद-घर-आँगन में
खिलारी करता, मन बहलाता रहा बेटा
उसकी जरूरतें, चाहत और लालसाएँ,
पूरी करता खप गया बाप, और जर्जर हो गई मैं भी...
आज उसके शौक बाहर हैं मेरे बूते से
तो वो भी मुझको नहीं पूछता...

आज जब पड़ोस की मुनिया, बरजी,
सुरजो को देखती हूँ
तो वे अजन्मी बेटियां याद आ रही हैं
बिन बेटों की मुनिया रह आती है
दोनों बेटियों के पास
चार-छह महीना...
तीन बेटों के बावजूद
अकेली डठोरे से रहती है बरजी,
बेटियों के दम पर...
हफ्ते दस दिन में औसरा बारी आती हैं बेटियाँ
गुदड़ियाँ, रजाईयाँ और मोटे कपड़े,
धो, सुखा, तह कर जाती,
खाट-पीढ़ी कस जाती, पीसणा कर जाती,
लकड़ियाँ बीन जलावन रख जाती चूल्हे के एकदम पास
बुहार, सँवार जाती घर आँगन को
नहला धुलाकर
गुनगुनी धूप में पीढ़े पर बिठला,
तेल-कंघी, चोटी कर
चोखी-सी कर जाती माँ को
घर आंगन और गली में
आती जाती मुनिया, बरजी और सुरजो
बुदबुदाती रहती हैं, लाख आशीषें बेटियों के नाम
उन्हें देख बरबस ही मुझको भी
वे अजन्मी बेटियां रह-रहकर याद आती हैं
अक्सर आंखें भर आती है।
अक्सर आंखें भर आती है।

डठोरे - रौब से, औसरा बारी - क्रमवार

कामकाजी लड़की

घर अब पहले जैसा नहीं रहा
सब कुछ वही है
जैसा मैं छोड़ के गई थी
हू-ब-हू वैसा ही
पर बदल गए लोग
मेरे अपने
अब उनकी बातों से,
नहीं झलकता प्यार और विश्वास
उनकी आत्मीयता,
अब बेमानी-सी लगती है
दूर रहकर वो जताते अपनापन,
ढेर सारा प्यार
पर न चाहते हुए भी
उनकी बातें बहुत कुछ बयां कर देती
जो मेरे अपनत्व को खत्म करती जातीं
अब लगने लगा ऐसा कि,
मैं सिर्फ एक टूल हूँ ...
जो पूरी करती रहूं इनकी जरूरतें
खरी उतरती रहूं सबकी अपेक्षाओं पर
कुछ न कहूं, सिर्फ सुनती रहूं
किसी पर अपना अधिकार न रक्खूं
चाहे वो हो एक निर्जीव वस्तु ही
घर अब पहले जैसा नहीं रहा
पहले बिना झिझक कह देती थी अपनी बात,
अड़ जाती अपनी जिद्द पर,
सब समझाते और करते पूरी जिद्द

अब कोई बात कहने से पहले
सोचना पड़ता है मुझे लगातार
लेकिन अब मेरा घर,
मेरा नहीं रहा...

सम्पर्क-08447695277

सुप्रसिद्ध रचनाकार असग़र वजाहत से डा. हैदर अली की बातचीत

हिंदी के सुप्रसिद्ध और ख्याति प्राप्त लेखक हैं असग़र वजाहत। बहुत कम रचनाकार ऐसे होते हैं जो साहित्य की सभी प्रमुख विधाओं में अव्वल दर्जे की रचना दे पाते हैं। लेकिन असग़र वजाहत ने ये कारनामा किया है. नाटक में 'जिन लाहौर नई देख्या ओ जम्याई नई', उपन्यास में 'सात आसमान', 'यात्रा संस्मरण में 'चलते तो अच्छा था' तथा 'पाकिस्तान का मतलब क्या', और मूलत: वे कहानीकार तो हैं ही। उनकी दर्जनों कहानियां (केक, मैं हिन्दू हूं, तमाशे में डूबा देश, शाह आलम कैंप की रूहें तथा डेमोक्रेसिया आदि आदि) बहुत ही चर्चित और प्रशंसनीय रही हैं। उन्होंने अपने लेखन से साहित्य को नए आयाम दिए हैं। फिल्मों के लिए पटकथा लिखने के अलावा धारावाहिक और दस्तावेजी फिल्मों के निर्देशक भी रह चुके हैं। 30 से अधिक पुस्तकों के रचियता असग़र वजाहत की रचनाओं का कई भारतीय और विदेशी भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। उनके नाटक 'जिन लाहौर नई देख्या' का मंचन अमेरिका, आस्ट्रेलिया, दुबई तथा पाकिस्तान आदि देशों में भी हुआ है। यह नाटक हिंदी साहित्य में मील का पत्थर बन चुका है। आप बीस से अधिक देशों की यात्राएँ कर चुके हैं। हिंदी अकादमी के प्रतिष्ठित पुरस्कार श्लाका सम्मान, राष्ट्रपति अवार्ड, संगीत नाटक अकादमी के अलावा दर्जनों साहित्यिक और सांस्कृतिक सम्मान आपको मिले हैं। असग़र वजाहत का सम्पूर्ण लेखन धार्मिक कट्टरता और सांप्रदायिक ताक़तों से लड़ने की प्रेरणा देता है यानी सांस्कृतिक-सामाजिक सद्‌भाव उनके लेखन की रीढ़ है. इस अनूठे और निराले रचनाकार से साहित्य के कुछ महत्वपूर्ण और ज्वलंत मुद्दों पर बात की है युवा लेखक डॉ हैदर अली ने। - सं.

हैदर अली : आपने साहित्य की सभी विधाओं में लेखन किया है. साहित्य में आप यात्रा आख्यान लिखने, नाटककार, उपन्यासकार तथा कहानीकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनमें आपका दिल किस में सबसे अधिक रमता है? और क्यों?

असग़र वजाहत : ये विषय वस्तु के आधार पर तय होता है। कुछ ऐसे विषय होते हैं जिसमें कहानी अच्छी हो सकती है और कुछ में नाटक या उपन्यास। यानी विषय विधा को तय करता है, कि रचना कौन सी विधा में अच्छी लिखी जा सकती है। अब जैसे गाँधी के मरने के बाद क्या स्थिति हुई और अगर वो जिंदा होते तो क्या होता? इस विषय के लिए नाटक ही उपयुक्त विधा लगी, सो गांधी-गोडसे.कॉम लिखा गया। वैसे भी हर विधा में कुछ रचनाएँ अच्छी और कुछ बुरी हो जाती हैं। लेखन का कार्य कोई मशीनी तो है नहीं। अत: सभी चीज़ें अच्छी मिलती हैं मसलन विषय, विधा तभी वो रचना अच्छी बन पाती है। अच्छी रचना का मतलब ये होता है कि पाठक उसे लम्बे समय तक सराहे तथा याद रखे, उसे ही अच्छी रचना माना जाना चाहिए।

हैदर अली: अक्सर देखा गया है कि रचनाकार सालों से शहर में रहते हैं फिर भी उनके लेखन में शहर कम, गाँव अधिक रहता है यानी एक प्रकार का नास्टेल्जिया, इसकी क्या वजह है?

असग़र वजाहत: शहरों का इतिहास खासतौर से उत्तर भारत में बहुत पुराना नहीं है। लगभग 100 साल का मान सकते हैं, जबकि गाँव और कस्बों का इतिहास और जीवन बहुत पुराना है। वहाँ का जीवन स्थायी है जबकि शहरों के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। अब देखिये दिल्ली में 90 प्रतिशत लोग बाहर के हैं, जबकि गाँव में 20-20 पीढ़ियों से लोग एक साथ रह रहे हैं, एक दुसरे के सुख-दु:ख से जुड़े होते हैं। अत: वहाँ के जीवन का रूप अधिक स्थाई है। और दूसरी बात ये है कि गाँव में जो परिवर्तन होता है वो धीरे-धीरे होता है, उसे देखना सरल है, जबकि शहर में उसे देखना मुश्किल। जहां तक नोस्टेल्जिया की बात है तो अपना अतीत आपको बार-बार याद आता है।

हैदर अली: ये देखने में आता है कि अक्सर मुस्लिम लेखकों के लेखन में साम्प्रदायिकता की समस्या बार-बार आ जाती है। चाहे राही मासूम रजा हों या कुर्रतुल-ऐन-हैदर हों, और आपके साथ भी ऐसा होता है। इसकी मुख्य वजह क्या है?

असग़र वजाहत: साम्प्रदायिकता की समस्या का सबसे अधिक प्रभाव मुस्लिमों पर ही पड़ता है। वही उससे ज्यादा प्रभावित और प्रताड़ित रहे हैं। लेखक सबका होते हुए भी किसी एक वर्ग से बिलोंग करता है। अत: उस नाते वह उन समस्याओं को करीब से देखता है और कभी-कभी उससे प्रभावित भी होता है। अब जो उसके करीब होगा, जो उससे प्रभावित होगा वही तो लिखेगा। अत: ये एक प्रकार से अपनी ज़िम्मेदारी निभाने वाली बात है। लंदन में बैठ कर तो साम्प्रदायिकता पर नहीं लिखेगा।

हैदर अली: साहित्य में राजनीति, खासतौर से पुरस्कारों के चयन में ऐसा सामने आता है। बहुत सारे लोग इस बात पर अचम्भा करते हैं कि आपको अब तक साहित्य अकादमी क्यों नहीं मिला? आप इसे किस रूप में लेते हैं?

असग़र वजाहत: पुरस्कारों में अगर पक्षधरता न हो तो बहुत अच्छा है, लेकिन हमेशा ऐसा नहीं होता। बहुत सी संस्थाएं प्रायोजित पुरस्कार देती हैं। निर्णय बहुत fair नहीं होते हैं। लेकिन प्रयास किया जाना चाहिए कि सही रचना को सम्मान मिले। पुरस्कार देने वाली कमेटी की एक

understanding होती है, वह अपनी समझ के आधार पर तय करती है। कभी निर्णय सही और कभी इतने सही नहीं होते, पर सबसे पहले तो लेखक का लिखा हुआ सामने आये तभी तो वो देखेगी, तो मुख्य है लेखन।

हैदर अली: मैंने पढ़ा है और एक बार आप से किसी सेमीनार में सुना भी कि आप हिंदी को रोमन में लिखने के हिमायती हैं। कहने का मतलब है कि ऐसा करने के खिलाफ नहीं हैं।

असग़र वजाहत: परिवर्तन शाश्वत है, जब समाज में, मनुष्य में, फैशन में, आचार-विचार में परिवर्तन आ जाता है तो भाषा में क्यों नहीं? वो भी समाज का हिस्सा है, उसे भी मनुष्य ही बोलते हैं। हम ये नहीं सोचते कि जो लिपि हम आज लिख रहे हैं 1000 साल पहले वो नहीं थी और 1000 साल बाद वो नहीं होगी। अत: परिवर्तन को उपयोगी बनाएं, लिपि के परिवर्तन को संचालित किया जाए, ज़बरदस्ती नहीं। फेसबुक, वाटसप, मेल आदि में बहुत सारी हिंदी रोमन में लिखी जाती है तो क्या उसके प्रति उदासीन बने रहेंगे या उस परिवर्तन को समझेंगे। उसे ढंग से समझने और संचालित करने की ज़रुरत है।

हैदर अली: आप फेसबुक पर काफी सक्रिय रहते हैं। खूब पोस्ट डालते हैं, उन पर आने वाले प्रश्नों पर प्रतिक्रिया देते हैं। कुछ लोग भद्दे कमेंट करते हैं। इस पर आप कि क्या राय है?

असग़र वजाहत: मैं एक लेखक के साथ कभी-कभी अपने आप को एक्टिविस्ट भी मानने लगता हूँ। मेरे इस द्वंद्व को फेसबुक से संतोष मिलता है। आप कहेंगे कैसे? जब फेसबुक पर कुछ लिखता हूँ, तो उसे 500 से ज्यादा लोग देखते हैं। 100 के आस-पास अपनी सहमति, असहमति या राय देते हैं। कुछ लोग उसे शेयर करते हैं। कुछ लोग गालियाँ भी देते हैं। पोस्ट डालने के दो चार घंटे बाद ही पता चल जाता है कि आपकी बात को लोग कैसे लेते हैं यानी इसमें आप फ़ौरन संवाद कायम करते हैं। लोगों से संवाद ज़रूरी है। फेसबुक से मुझे भी कुछ महत्वपूर्ण जानकारियाँ मिलती रहती हैं।

सम्पर्क-9990184757

असग़र वजाहत की लघु कथाएं

नये ईसा मसीह

(हिंदी के वरिष्ठ और प्रतिष्ठित कवि, व्यंग्यकार और पत्रकार विष्णु नागर जी को समर्पित)

एक नए ईसा मसीह हैं। उनसे सभी खुश हैं। उनकी लोकप्रियता आसमान को छू रही है। हर आदमी उनके ऊपर बलिदान होने को तैयार है। वे जहाँ जाते हैं लोग अपनी आँखें बिछा देते हैं।

इसी समय कोई और आया। उसने कहा कि वह ईसा मसीह है। अब ईसा मसीह दो हो गए। एक को हम कह सकते हैं नये ईसा मसीह और दूसरे को कह सकते हैं पुराने ईसा मसीह।

नये ईसा मसीह को जब यह पता चला कि कोई और भी अपने आपको ईसा मसीह कह रहा है तो वे गुस्से से पागल हो गये। उन्होंने कहा, किसकी हिम्मत है कि कोई और अपने को ईसा मसीह कह सके। मैं देख लूंगा। मैं समझ लूंगा। मैं दिखा दूंगा। मैं कर दूंगा। मैं फोड़ दूंगा। मैं तोड़ दूंगा। मैं चीर दूंगा। मैं फाड़ दूंगा। मैं बजा दूंगा। मैं घटा दूंगा। मैं मिटा दूंगा। मैं घुसेड़ दूंगा। ....मैं ईसा मसीह था, हूँ और रहूँगा।

पुराने ईसा मसीह को जब ये पता चला कि कोई उनसे खुश नहीं है तो पुराने ईसा मसीह नए मसीह के सामने आए और अपना एक गाल उनके आगे कर दिया। नये मसीह ने उनके गाल पर एक जोर का थप्पड़ मारा। पुराने मसीह ने दूसरा गाल आगे कर दिया। नए मसीह ने उस पर भी जोर का तमाचा मारा। पुराने मसीह ने फिर पहला गाल आगे कर दिया। पुराने मसीह को नये मसीह लगातार तमाचे मारते रहे। यहां तक कि पुराने मसीह अधमरे हो गए।

और फिर नये मसीह ने पुराने ईसा मसीह को सूली पर टांग दिया गया। जनता ने करतल ध्वनि से नए ईसा मसीह का समर्थन किया।

लाखों लोगों की भीड़ को नए ईसा मसीह ने संबोधित किया है।

- असली ईसा मसीह कौन है? आप लोग बताओ? मैं हूँ या यह आदमी है जो सूली पर चढ़ा है?
- आप हैं आप हैं।' जनता एक स्वर में बोली।
- सच्चा कौन है, मैं हूँ या यह आदमी है जो सूली पर चढ़ा है ?
- आप हैं आप हैं।
- तुम किसके आदेश मानोगे, मेरे यह इस आदमी के जो सूली पर चढ़ा है ?
- आपके आपके। पूरी जनता ने कहा।
- तुम मुझे वोट दोगे या इस आदमी को जो सूली पर चढ़ा है?
- आपको आपको।'
- किस पर विश्वास करते हो जो सूली पर चढ़ा है या मुझ पर?
- आप पर और आप पर और आप पर।' जनता ने एक स्वर से कहा।

सूली पर लटके यीशु मसीह की आँखें धीरे धीरे बंद हो रही थीं। लोग यह समझे कि उनकी आँखें वास्तव में 'बंद' हो जायेगी।

पर पुराने ईसा मसीह की आँखें कभी 'बंद' नहीं होतीं।

बीज और ज़मीन

वह बड़ा अजीब आदमी है। अपनी दोनों जेबों में हमेशा बीज भरे रहता है। तरह तरह के बीज। ऐसे बीज जो जमीन में डाल दिए जाए तो तरह-तरह के पौधे, पेड़, फूल और फल निकलते हैं।

वह जेबों में बीज भरे रहता है। सबको दिखाता है। देख रहे हो ये बीज हैं। अच्छी तरह देख लो ये बीज हैं। जाँच-परख लो ये बीज हैं। वह लोगों को अच्छी तरह दिखाता और समझाता है कि ये बीज ही हैं। जब लोग मान लेते हैं कि ये बीज हैं। तब वह हँस कर कहता है कि हाँ ये बीज हैं। वह इस तरह कहता है जैसे बीज का मखौल उड़ा रहा हो। फिर ठहाका मारकर इतनी जोर से हँसता है कि जमीन से लेकर आसमान तक सब कुछ हिल जाता है। वह अपनी जेबों से बीज निकाल निकाल कर बीजों को हवा में उछाल देता है। हवा में लहराते हुए बीच जमीन पर गिरते हैं।

मौसम बदलते हैं। गर्मी का

मौसम जाता है। बरसात आती है। सर्दी आती है। फिर गर्मी का मौसम आता है। बरसात होती है। लेकिन बीज से अंकुर नहीं निकलते। कोई पौधा नहीं निकलता ।

वह ठहाके लगाता हुआ कहता है- देखो मैंने बीज से जमीन का नाता तोड़ दिया है। अब बीज का जमीन से कोई नाता नहीं है।

तीन तलाक

- मैं तीन तलाक और बुर्के का विरोधी हूँ।
- मैं भी हूँ। पर आप तीन तलाक और बुर्के के क्यों विरोधी है?
- इसलिए विरोधी हूँ कि मैं मुस्लिम महिलाओं का भला चाहता हूँ। तीन तलाक और पर्दा मुस्लिम महिलाओं का शोषण है। उनके लिए अमानवीय है ।
-आप मुस्लिम महिलाओं के प्रति बहुत संवेदनशील हैं।
-हाँ हूँ। इसमें क्या बुराई है।
-बड़ी अच्छी बात है। यह बताइए आदिवासी और दलित महिलाओं के प्रति भी आपके मन में संवेदना है, सहानुभूति है?
-हाँ है।
-तो आप उनके लिए क्या करते हैं?
- जब तक वे बुर्का नहीं पहनने लगेंगी और उनके समाज में तीन तलाक नहीं होने लगेगी तब तक मैं क्या कर सकता हूँ ?

लकड़ी के अब्दुल शकूर की हँसी

(प्रस्तावना-हम तुम्हें मार रहे हैं लेकिन तुम हँस रहे हो। देखो कितनी सच्ची, प्यारी और अनोखी हँसी है। ऐसी हँसी तो शायद तुम पहले कभी नहीं हँसे। या हँसे होगे पर भूल गए। यह अच्छा है कि तुम्हारी याददाश्त कमजोर है तुम उन सबको भूल जाते हो जिन्होंने तुम्हें हँसाया था। तुम दिल खोल कर हँस रहे हो। अब देखो तुम बदल रहे हो। तुम्हारे आंसू नहीं हैं ये तो ओस की बूंदें हैं जो आकाश से तुम्हारे ऊपर टपक रही हैं। देखो तुम्हारा अल्लाह भी तुमसे खुश हैं क्योंकि तुम खुश हो। देखो तुम जिंदा हो। देखो तुम बोल सकते हो।आगे बढ़ रहे हो। तुम्हारी आने वाली पीढ़ियाँ तुम पर गर्व करेंगीं कि तुम कभी नहीं रोये। सिर्फहँसते रहे, सिर्फ हँसते हो। हँसते रहो, हमारी यही कामना है।)

(1)

अब्दुल शकूर वल्द अब्दुल वहीद वल्द करीम वल्द रहीम वल्द रमना वल्द चमना के अंदर एक बड़ी खूबी पैदा हो गई है। वैसे तो अब्दुल शकूर बढ़ई का काम करता है। उसकी सात पुश्तों से यही काम होता आया है।

आजकल अब्दुल शकूर बहुत खुश है। क्योंकि उसके अंदर एक खास खूबी पैदा हो गई है। जो और किसी में नहीं है। मतलब यह कि अब्दुल शकूर जब पीटा जाता है तब वह हँसता है। खुश होता है। इस बात पर उसके घर वाले भी हँसते हैं। तालियां बजाते हैं और पीटने वाला तो फूला नहीं समाता।

(2)

- अब्दुल शकूर तुम्हें मार खाने में मजा आता है?
- जी हाँ मुझे मार खाने में मजा आता है।
- कितना मजा आता है।
- यह तो नहीं बता सकता है। लेकिन समझ लीजिए बेहिसाब मजा आता है।
- कोई भी मारता है तो तुम्हें मजा आता है?
- नहीं।
- फिर कौन मारता है जब तुम्हें मजा जाता है?
- जब आप मारते हैं तो मुझे मजा आता है।

(3)

- अब्दुल शकूर मैं मीडिया के सामने तुमसे एक सवाल पूछ रहा हूँ।
- जी पूछिए।
- अब्दुल शकूर मैं जब तुम्हें मारता हूँ तो तुम्हें चोट बिल्कुल नहीं लगती?
- नहीं मेरे को नहीं लगती।
- तुम्हें बिल्कुल दर्द नहीं होता?
- नहीं मुझे कोई दर्द नहीं आता।
- तुम्हारी तो खाल तक उधड़ जाती है तुम्हें बिल्कुल तकलीफ नहीं होती?
- जी नहीं मुझे बिल्कुल तकलीफ नहीं होती।
- क्यों अब्दुल शकूर?
- इसलिए कि आप मुझे लकड़ी का जो समझते हैं।

(4)

- अब्दुल शकूर मैं तुम्हें क्यों मरता हूँ?
- इसलिए कि मैं देश से प्रेम नहीं करता।
- यह तुम्हें कैसे पता चला कि तुम देश से प्रेम नहीं करते।
- सर यह तो मुझे पता ही नहीं चलता है अगर...
- अगर क्या? बताओ बताओ?
- अगर...
- फिर तुम रुक गए...बताओ?
- अगर आपने न बताया होता तो....

(5)

- मेरा एक बहुत बड़ा दुश्मन है। उसके पास बहुत ताकत है। वह मुझे बर्बाद कर देना चाहता है। मैं उसका सामना करने के लिए हमेशा तैयार रहता हूँ। वह कभी छुपा हुआ वार करता है कभी सामने से हमला करता है। तुम जानते हो अब्दुल शकूर वह कौन है?
- हाँ मैं जानता हूँ कौन है।
- बताओ वह कौन है?
- मैं हूँ मैं....

(6)

- अब्दुल शकूर क्या तुम सपने देखते हो?
- हां जी मैं सपने देखता हूँ।
- क्या सपना देखते हो ?
- मैं सपना देखता हूँ कि एक हरी घास का मैदान है और उस मैदान में एक घोड़ा घास चर रहा है।
- वह घोड़ा कौन है।
- वह मैं हूँ।
- फिर क्या होता है?
- हरी घास चर ही रहा हूँ तभी मेरे मुँह में लगाम डाल दी जाती है और मैं घास भी नहीं चर पाता।
- तब?
- तब मेरी पीठ पर कोई बैठ जाता है।
- तुम्हारी पीठ पर कौन बैठ जाता है?
- मेरी पीठ पर आप ही बैठ जाते हैं और मुझे कोड़ा मारते हैं। मैं तेजी से भागता हूँ।
- फिर ?
- सामने से कोई चला आ रहा है।
- कौन चला आ रहा है?
- मैं ही चला आ रहा हूँ।
- फिर ?

– और मैं अपने को रौंदता हुआ निकल जाता हूँ।

(7)

– तुम पढ़ क्यों नहीं पाए अब्दुल शकूर तमाम स्कूल कॉलेज खुले हुए हैं?
– हाँ गलती मेरी ही है।
– तुम अपना इलाज क्यों नहीं करा पाए अब्दुल शकूर तमाम अस्पताल खुले हुए हैं?
– हाँ गलती मेरी ही है
– तुम नौकरी क्यों नहीं पा पाये अब्दुल शकूर तमाम दफ्तर खुले हुए हैं ?
– हाँ गलती मेरी है।
– तुम कितनी गलतियां करोगे अब्दुल शकूर?
– लकड़ी का आदमी गलती नहीं करेगा तो क्या करेगा साहब....

(8)

– अब्दुल शकूर तुम्हारे घर की दीवार गिर गई।
– कोई बात नहीं गिर जाने दो।
– अब्दुल शकूर तुम्हारे घर की छत गिर गई।
– गिर जाने दो कोई बात नहीं।
– अब्दुल शकूर तुम्हारे बीवी-बच्चे नीचे दब गये है।
– दब जाने दो कोई बात नहीं।
– तुम्हारी दुकान में आग लग गई है। तुम्हारे सारे औजार जल गए। तुम्हारे पास खाने को कुछ नहीं है।
– कुछ भी हो जाये, हो जाए।
– क्यों अब्दुल शकूर?
– अच्छे दिन आएंगे।
– ये तुमसे किसने कहा।
– मुझे यकीन है।
– कैसे?
– आपने ही बताया है...।

(9)

– अब्दुल शकूर तुमने खाना खाया?
– खा लिया।
– लेकिन तुम्हारे घर में तो कुछ था नहीं।
– तुमने पानी पिया?
– जी पी लिया।
– लेकिन तुम्हारे घर में पानी तो था नहीं।
– पर पी लिया।
– तुमने कपड़े पहने?
– जी पहने।
– लेकिन तुम तो नंगे हो।
– तुमने इलाज कराया?
– करा लिया।
– लेकिन तुम तो बीमार दिखाई दे रहे हो अब्दुल शकूर।
– आप भी कमाल करते हैं...मैं बहुत खुश हूँ...लकड़ी का आदमी हूँ न....

(10)

(अब्दुल शकूर का जैसा अंत हुआ वैसा काश हम सब का हो। आमीन)

अब्दुल शकूर मस्जिद में नमाज पढ़ने गया। वह नमाज पढ़ने खड़ा होने ही वाला था कि मस्जिद की एक भारी मीनार टूट कर उसके ऊपर गिरी और अब्दुल शकूर उसके नीचे कुचल कर मर गया। मरने के बाद उसका पोस्टमार्टम किया गया है। रिपोर्ट यह आई कि मरने से पहले वह हंस रहा था।

सम्पर्क-09818149015

बाबर की वसीयत

सब प्रशंसा अल्लाह के लिए हैं।

जहीरुद्दीन मुहम्मद बाबर की वसीयत उसके बेटे नसीरुद्दीन हुमायूं के नाम। अल्लाह उसे दीर्घ आयु दे।

ऐ मेरे बेटे, भारत में बहुत से धर्म हैं और भारत की सल्तनत अल्लाह ने तुम्हें सौंपी है। तुम्हारे लिए जरूरी है कि धार्मिक कट्टरता को धरती से समाप्त कर दो और सभी धर्मों को उनके नियमानुसार न्याय दो। खास तौर पर गाय की कुर्बानी से बचो, ताकि तुम हिन्दुस्तान के लोगों का हृदय जीत सको। मंदिर एवं अन्य पूजा स्थलों का अनादर न किया जाए। न्याय ऐसा करो कि राजा प्रजा से खुश रहे और प्रजा राजा से। इस्लाम की प्रगति जुल्म की तलवार की अपेक्षा कृपा के अस्त्र से अधिक हो सकती है।

सुन्नी और शियाओं के झगड़ों पर ध्यान मत दो। यह दोष अभी इस्लाम में है।

धौलपुर कैंप में 11 जनवरी 1529 को लिखी गई। अंग्रेजी में अनुवाद : डा. जहीर हसन
साभार : एक और अंतरीप

मुक्तिबोध का मानवतावाद

❑डा. ओमप्रकाश ग्रेवाल

हिन्दी-जगत् में जब से अज्ञेय-सम्बन्धी मोहजाल कुछ कम हुआ है, हम यह पहचानने लगे हैं कि मुक्तिबोध ही आधुनिक युग के सबसे अधिक सशक्त कवि हैं। 'तारसप्तक' से सम्बंधित होना मुक्तिबोध के लिए व्यक्गित रूप में भ्रममूलक सिद्ध हुआ क्योंकि इससे उनके कवि-व्यक्तित्व की विशिष्टता की ओर ध्यान आकृष्ट होने में कुछ देर लगी और उन्हें अक्सर तार-सप्तकीय प्रयोगवादी कवि ही समझा जाता रहा। यद्यपि 'तारसप्तक' के कवियों का कोई सामूहिक 'वाद नहीं था। सम्पादक के नाते अज्ञेय का कवि व्यक्तित्व उस संकलन पर आरोपित हो गया। 'तारसप्तक' की तत्कालीन ख्याति (जो उसके वास्तविक मूल्य से कहीं ज्यादा थी) अज्ञेय की ख्याति में परिणत हो गई और उनके जीवन-मूल्य तथा काव्य-सम्बन्धी सिद्धांत प्रयोगवाद का पर्याय बन गये। अज्ञेय और मुक्तिबोध के प्रयोगों के साथ ही वास्तविक आधुनिक कविता आरम्भ होती है। अत: इन दोनों कवियों को नये युग के प्रर्वतकों के रूप में एक साथ रखना उचित ही है। पर यह बात भी अब तक सुस्पष्ट हो जानी चाहिए थी कि ये दोनों कवि एक-दूसरे से बहुत भिन्न भी हैं और मुक्तिबोध की काव्यकृति के विशिष्ट गुणों की पहचान अज्ञेय के काव्य पर आधारित मानदण्डों के सहारे सम्भव नहीं हो सकती। वास्तव में मुक्तिबोध के काव्य की सघनता एवं गत्यात्मकता उसमें प्रस्तुत गुम्फित मनोवैज्ञानिक भावों का मार्मिक विश्लेषण तथा वस्तुजगत् का यथार्थ चित्रण - ये सब अज्ञेय के सजाए-सँवारे, छनकर आए हुए 'विशुद्ध' काव्य में बहुत कम दिखाई देंगे। प्रस्तुत लेख में मुक्तिबोध के कवि-व्यक्तित्व की विशिष्टता की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए अज्ञेय से उनकी भिन्नता पर विशेष जोर दिया गया है।

छायावादी कविता में भारतीय समाज की नवजागृत चेतना एवं व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों की मुखर अभिव्यक्ति हुई। क्योंकि यह मध्यवर्ग के आरम्भिक विकास एवं राष्ट्र भावना के प्रसार का युग था, व्यक्ति अभी अपने को समाज से पृथक होकर नहीं देखने लगा था, व्यक्ति की निजी मांगों की उपलब्धि को तथा समाज के पुनर्निर्माण को उदात्त भावना के सहारे एक-दूसरे से जुड़ा देखना उस समय आसान लगता था। छायावादी कविता की टीस के पीछे तत्कालीन समाज में पाए जाने वाले किंचित् व्यक्तिगत अभावों की गहरी अनुभूति है अवश्य, पर इसके साथ वहां उन अभावों के सुनिश्चित यद्यपि काल्पनिक समाधान की आत्मविश्वासपूर्ण भावना का अनूठा मिश्रण भी हम पाते हैं। उस पीड़ा में जकड़ नहीं फैलाव है और उसे कोई कड़वाहट अथवा आन्तरिक अव्यवस्था उत्पन्न होती हो ऐसा नहीं लगता। जैसा कि मुक्तिबोध प्रसाद की 'कामायनी' के सन्दर्भ में बताते हैं भारतीय समाज में पनपने वाले मध्यवर्ग ने जल्दी ही ऐसे भावुक आदर्शवाद का सहारा लिया जिसकी बदौलत उसने सामयिक जीवन की गुत्थियों का समाधान एक समाजातीत रहस्यवादी अद्वैत दर्शन में ढूंढ निकाला। भारतीय समाज की रूढ़िग्रस्त व्यवस्था से मध्यवर्ग का जो संघर्ष होना चाहिये था, वह इस दार्शनिक दृष्टिकोण के अपनाए जाने पर बीच में ही ढीला पड़ गया। क्योंकि पूँजीवाद का भारतवर्ष में आगमन ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्यवादी सत्ता के अन्तर्गत हुआ था जो यहाँ के खोखले सामन्ती अवशेषों को कायम रखना चाहती थी, पूँजीवादी शक्तियों की सामन्ती मूल्यों और संबंधों से सीधी टक्कर यहां बड़ी धीमी रही और वर्ग संघर्ष की तीव्रता का आभास जनसाधारण को न हो सका। मध्यवर्ग द्वारा प्रतिपादित समाजातीत सामंजस्य का सिद्धांत भी इसमें सहायक सिद्ध हुआ। कुछ संवेदनशील व्यक्तियों को पूँजीवाद की शोषण और अन्याय की वास्तविक प्रवृत्तियों का बिना संघर्ष किये ही विरोधी होने का आसान तरीका इस भावुक आदर्शवाद ने प्रदान किया। यह आदर्शवाद इस प्रकार उदार भावना के बावजूद सामयिक जीवन के वास्तविक तथ्यों से निकट सम्पर्क स्थापित करने में उन संवेदनशील व्यक्तियों के लिए बाधा बन गया। इससे प्रभावित होने वाला छायावादी काव्य अमूर्त होता गया, उसकी मांसलता कम हो गई और कसक धीमी पड़ गई।

जब एक ओर यह भावप्रणाली समय के साथ शिथिल और गतिहीन होती गई तथा दूसरी ओर सामाजिक जीवन के तनाव उग्र हो गये तो कुछ कवियों ने रहस्यवादी अद्वैत दर्शन का लबादा उतार फेंका। इसकी तत्कालीन अभिव्यक्ति हुई दो विभिन्न किन्तु एक-दूसरे की पूरक काव्य-शैलियों में -- एक शैली अपनायी प्रगतिवादी कवियों ने और दूसरी व्यक्तिगत जीवन में तुरन्त भोगे-सहे जाने वाले अनुभवों को सीधे ही कविता में उतार लाने वाले बच्चन सरीखे भाववादी कवियों ने। वैसे तो दोनों ही काव्य-शैलियों के पीछे काम करनेवाला भावबोध मध्वर्गीय व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के संदर्भ में विकसित हुआ था, पर एक ने मध्यवर्ग के कर्त्तव्य-परायण अंश की मानवीयतावादी सामाजिकता का प्रतिनिधित्व किया और दूसरी ने उसके आत्यन्तिक आत्मपरक भावोच्छास का। दोनों प्रकार के कवियों की सामान्य विशेषता थी उनका इहलौकिक दृष्टिकोण तथा अपने आसपास की वर्तमान स्थिति से सीधे जुड़े होने का आभास। सभी प्रकार के व्यक्तित्ववादी दृष्टिकोणों में पाए जाने वाले सरलीकरण के तत्व तो इन दोनों काव्यधाराओं में थे ही, इसके अतिरिक्त व्यक्तिवादी जीवनदृष्टि के आन्तरिक द्वन्द्वों को निभा न पाने के कारण अति सरलीकरण की मात्रा यहाँ और भी अधिक हो गई। सामाजिक दायित्व और निजी उलझनें यहां आकर एक-दूसरे से इतनी अलग समझी जाने लगी कि किसी भी भावप्रवण व्यक्ति द्वारा इन दोनों को एक साथ चुन पाना कठिन हो गया। इन दोनों प्रकार के कवियों ने मानव-समस्याओं की कल्पना केवल एक औसत आदमी की नपी-तुली अनुभूतियों

के धरातल पर की, उन अनुभूतियों के परे अथवा उनके अन्तर में पैठी जो सारभूत गुत्थियाँ होती हैं उनकी झलक इन कृतियों में नहीं मिलती। इसलिए इन प्रगतिवादी तथा भाववादी कवियों के सामयिक जीवन को सुलझा कर व्यक्त करने के प्रयास असंतोषजनक सिद्ध हुए और उनकी कृतियों की सपाटता बहुत जल्दी अखरने लगी।

ऐसी परिस्थिति में सामयिक जीवन के दबावों को पूर्णतया सहने वाले आधुनिक भावबोध का दावा लेकर सामने आए 'तारसप्तक' के प्रयोगशील कवि। बाह्य जीवन के दबावों से निरन्तर घिरे होने की घुटन, सामंजस्य के अभाव में उभरने वाले मानसिक तनाव, परम्परागत मूल्यों के टूट जाने के बाद की संक्रमण स्थिति की अनिश्चितता एवं बेचैनी -- ये थीं इस नये भावबोध की कुछ विशेषताएं। 'तारसप्तक' के कवियों ने अपने पूर्ववर्ती कवियों द्वारा किए गए सामाजिक तथा व्यक्तिगत पहलुओं के कृत्रिम विच्छेद को मिटा देने की चेष्टा की और प्रगतिवादी कवियों के यथार्थ सामाजिक चित्रण को भाववादी कवियों की मनोवैज्ञानिक यथार्थवत्ता से जोड़कर पुष्ट बनाने का प्रयत्न किया। उन्होंने छायावादी कविता के उदात्त तत्त्वों को भी अपने काव्य की मूर्तता में समेट लेने की कोशिश की। इसके अतिरिक्त कुछ और संयम भी इन कवियों ने स्वीकार किये। उन्होंने विश्लेषण-बुद्धि को कल्पना अथवा भावना का विरोधी नहीं पोषक माना और इस प्रकार बिम्बों और भावोद्वेगों को बौद्धिक तटस्थता से आंकना-मापना आरम्भ किया। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि भाषा की पूर्ण सार्थकता सतत साधना द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। अत: कलाकार का मुख्य दायित्व अभिव्यक्ति की सफलता और सच्चाई से संबंधित है, यह भी उन्होंने पहचाना। ये सभी बातें कुछ कमीबेशी के साथ अज्ञेय और मुक्तिबोध दोनों के बारे में कही जा सकती है। पर जहां अज्ञेय का भावबोध कुछ नवीन सामाजिक दबावों की प्रतिक्रियास्वरूप व्यक्तिवादी दृष्टिकोण में आए एक रूपान्तर पर आधारित है, मुक्तिबोध का भावबोध सारभूत रूप में व्यक्तिवादी परम्परा से अलग दिखाई देता है।

अज्ञेय के व्यक्तिवाद की एक नई विशेषता है तनाव का तीखा अनुभव। यहां व्यक्ति समाज के साथ किसी प्रकार का तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाता। पर उस दबावपूर्ण परिवेश को आसानी से भुला भी नहीं जाता। व्यक्ति की अस्मिता का एहसास अज्ञेय में आकर बहुत प्रखर हो गया और वैयक्तिक सम्पूर्णता की खोज अब बाह्य-जीवन में अनुकूल परिवर्तन लाने के प्रयासों से नहीं जोड़ी जा सकती। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के उन क्षणिक प्रगाढ़ अनुभवों द्वारा ही, जो कला में अभिव्यक्त होने वाली सौन्दर्यानुभूति से विशेषकर जुड़े हुए होते हैं, यह खोज अब आगे बढ़ाई जा सकती है और केवल इन्हीं अनुभवों के माध्यम से सामूहिक जीवन के दबावों से क्षण-भर के लिए निस्तार पाया जा सकता है। अज्ञेय के काव्य में पहुंचकर व्यक्तिवादी परम्परा में कुछ और भी परिवर्तन आए। व्यक्तित्व की कल्पना यहां पहले से अधिक ठोस और सुनिश्चित हो गई है। छायावादी तरल विस्तार कम हो गया है और फैलाव के स्थान पर गहराई आ गई है। स्वचेतना की परिधि का पूरी तरह सीमांकन करने के बाद ही यहां व्यक्तित्व की सत्ता परिभाषित होती है। इस नये व्यक्तिवादी भावबोध में कुछ रहस्यमयता बरकरार रही जरूर, पर अब वह व्यक्तित्व की भीतरी गहराइयों से ही मुख्यत संबंधित रह गई और अलौकिकता की झलक उसमें से लगभग जाती रही। जो कुछ ऐंद्रिक भावों के माध्यम से ग्रहण किया जाता है उसी की सघन, तीव्र क्षणिक अनुभूति में व्यक्ति की समूचीयत्ता झलकती है, ऐसा यहां मान लिया गया है।

मुक्तिबोध की भावभूमि इस व्यक्तिवादी परम्परा से भिन्न है। वे उस निम्न-मध्यवर्ग की जीवन-दृष्टि का प्रतिनिधित्व करते हैं जो वर्ग-संघर्ष की आग में पड़कर क्रांतिकारी भावना को अपना चुका है। मुक्तिबोध जानते थे कि पूंजीवादी समाज-व्यवस्था के तनाव उग्र होते ही भारतीय मध्यवर्ग दो भागों में बंट गया। वर्ग-संघर्ष के प्रबल मानसिक आघातों ने निम्न-मध्यवर्ग और उच्च-मध्यवर्ग के बीच अब एक खाई पैदा कर दी। निम्न-मध्यवर्ग के प्रबुद्ध लेखक अपना भाग्य शोषित, पीड़ित जनसमुदाय के साथ जोड़ने पर विवश हो गए। गरीब लोगों को घिसते-पिसते देखकर उनमें अपराध भावना जाग उठी और तटस्थता की मुद्रा अपनाना उनके लिए असम्भव हो गया। सामाजिक जीवन में व्याप्त 'सत-चित् वेदना' की खुली अभिव्यक्ति करना उन्होंने अपना परम कर्त्तव्य मान लिया। इसके विपरीत उच्च-मध्यवर्ग से संबंधित लेखकों को (तथा उन निम्न-मध्यवर्गीय लेखकों को भी, जो विवेक अथवा साहस की कमी के कारण अभिजातवर्गीय जीवन के मोह-जाल से छुटकारा नहीं पा सके) इस वेदना की तीव्र अनुभूति नहीं हो पाई। अपनी आत्मा की आवाज को वर्गीय संस्कारों से दबा देने में उन्हें कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई। शीत-युद्ध की राजनीति से उन्हें कुछ ऐसे बौद्धिक अस्त्र मिल गए जिनसे वे अपने संकीर्ण संस्कारों को सुविचारित सिद्धांतों के रूप में प्रस्थापित करने लगे। प्रयोगवादी कविता से सम्बद्ध व्यक्ति स्वातन्त्र्य, सौन्दर्यानुभूति तथा कला की स्वायत्तता जैसे सिद्धांतों को इसी संदर्भ में समझना चाहिए। 'नई कविता का आत्मसंघर्ष' के विभिन्न लेखों में मुक्तिबोध ने इन सिद्धांतों को बारीकी से जांचा-परखा है और दिखाया है कि कैसे बहुत हद तक इनके पीछे शीत-युद्ध की अंतर्राष्ट्रीय राजनीति एवं संकुचित वर्गीय दृष्टिकोण की तर्क श्रृंखला काम कर रही

मुक्तिबोध की भावभूमि इस व्यक्तिवादी परम्परा से भिन्न है। वे उस निम्न-मध्यवर्ग की जीवन-दृष्टि का प्रतिनिधित्व करते हैं जो वर्ग-संघर्ष की आग में पड़कर क्रांतिकारी भावना को अपना चुका है। मुक्तिबोध जानते थे कि पूंजीवादी समाज-व्यवस्था के तनाव उग्र होते ही भारतीय मध्यवर्ग दो भागों में बंट गया। वर्ग-संघर्ष के प्रबल मानसिक आघातों ने निम्न-मध्यवर्ग और उच्च-मध्यवर्ग के बीच अब एक खाई पैदा कर दी। निम्न-मध्यवर्ग के प्रबुद्ध लेखक अपना भाग्य शोषित, पीड़ित जनसमुदाय के साथ जोड़ने पर विवश हो गए। गरीब लोगों को घिसते-पिसते देखकर उनमें अपराध भावना जाग उठी और तटस्थता की मुद्रा अपनाना उनके लिए असम्भव हो गया। सामाजिक जीवन में व्याप्त 'सत-चित् वेदना' की खुली अभिव्यक्ति करना उन्होंने अपना परम कर्त्तव्य मान लिया।

है। इन सिद्धांतों के प्रचलन से आधुनिक भावबोध के नाम पर एक विशिष्ट प्रकार की भावप्रणाली प्रतिष्ठित हो गई जो सच्ची अनुभूति का तेवर रखते हुए वास्तव में प्रौढ़ और खरी नहीं थी।

मुक्तिबोध इस प्रकार के 'आधुनिक भावबोध' के अन्तर्गत नहीं आते जबकि अज्ञेय की काव्यकृति इसका एक प्रमुख उदाहरण पेश करती है। मुक्तिबोध की 'आधुनिकता' के मूल में जो मानवतावाद है वह मध्यवर्गीय व्यक्तिवादी दृष्टिकोण की त्रुटियों, अभावों तथा सरलीकरणों से लगभग मुक्त है। यह मानवतावाद छायावादी युग के भावुक आदर्शवाद का अगला क्रमिक चरण न होकर एक नई शुरूआत है। सामयिक जीवन में गतिमान द्वन्द्वात्मक विभेदों के चुभते हुए अस्तित्व को सहकर और संघर्ष के आघातों को पूर्णतया झेलकर गठित होने वाले प्रतिनिधिक व्यक्तित्व का समुचित आभास हमें मुक्तिबोध के काव्य में मिलता है। अज्ञेय की कृतियों में ऐसे व्यक्तित्व की छाप इतनी स्पष्ट दिखाई नहीं देती। स्वतंत्रता-प्राप्ति से कुछ पहले और बाद के भारतीय समाज में जीने वाले संवेदनशील व्यक्ति का मनस्तत्व कैसा होगा यह हम मुक्तिबोध के काव्य में अज्ञेय के काव्य की तुलना में कहीं अधिक अच्छी तरह जानने लगते हैं। उनकी संवेदनशीलता ऐसी विवेक बुद्धि से पोषित है जो सामयिक जीवन के वस्तुपरक तथ्यों का सम्यक् ज्ञान रखती है और जानती है कि किस प्रकार के दबाव व्यक्ति के मन पर वे डाल रहे हैं। इस विवेक बुद्धि द्वारा किये गए मार्मिक विश्लेषणों से अवरूद्ध व्यक्तित्व की विकृतियों और कुण्ठाओं की हमें पहचान हो जाती है और यह भी पता चल जाता है कि विभिन्न अवरोधों को तोड़कर कैसे व्यक्तित्व की सम्पूर्ण संभावनाओं को प्राप्त किया जाए। उनके काव्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्पूर्णता की खोज में अग्रसर होने के लिए परस्पर सहयोग, खतरे उठाने की सामूहिक तत्परता तथा सहानुभूति के सक्रिय विस्तार की आवश्यकता होती है। यह मानवतावाद मार्क्सवाद के अन्तर्गत आता है कि नहीं, इस विवाद में मैं नहीं पड़ना चाहूँगा, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह सम्भवत: उस 'न्यू लैफ्ट' विचारधारा के करीब पड़ता है जो सुस्थापित साम्यवादी पार्टियों द्वारा प्रतिष्ठित मार्क्सवाद की तुलना में सामयिक जीवन की पेचीदगियों को कहीं ज्यादा अच्छी तरह समझने वाली अग्रिम-चेतना लिये हुए होने का दावा करती है।

मुक्तिबोध के मानवतावाद में और व्यक्तिवादी परम्परा के मानवतावाद में भावों तथा विचारों, दोनों का ही अन्तर है। हर प्रकार की मध्यवर्गीय व्यक्तिवादी विचार-पद्धति में 'यथार्थ' का एक सामान्य स्वरूप स्वीकार किया गया है। इस विचारणा के अनुसार यथार्थ संसार ऐसी स्थायी इकाइयों का समूह है जिन्हें मापा, तोला और गिना जा सकता है, जो आरोपित शक्तियों के बल पर लक्ष्यहीन, यान्त्रिक गति से चलती रहती हैं और दूर से एक-दूसरे पर प्रभाव डालती हैं। व्यक्ति के निजी अस्तित्व की तथा समाज से उसके संबंधों की व्याख्या भी अक्सर इसी 'मॉडल' को ध्यान में रखते हुए की गई है। व्यक्तिवादी यथार्थ दृष्टिकोण के अनुसार ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये गए फुटकर अनुभवों के सहज संयोजन से व्यक्तित्व यंत्रवत् चलता रहता है। यूरोप के कुछ रोमांटिक चिन्तकों तथा लेखकों ने मानव-स्वभाव के सम्बन्ध में इन यथार्थवादी धारणाओं को पूरी तरह नहीं माना और उन्हें संकीर्ण, सपाट तथा अगत्यात्मक बताया। पर समाज और प्राकृतिक जगत् के बारे में उनकी धारणा भी इसी यथार्थवादी दृष्टिकोण से मिलती-जुलती बनी रही। जिन मानवीय मूल्यों पर उन्होंने जोर दिया वे अमूर्त और यथार्थ का केवल एक काल्पनिक विकल्प ही बने रहे। उन्होंने यथार्थ के स्वरूप को नहीं बदला, केवल इसे हेय मानकर अपने मानसिक अभावों की पूर्ति के लिए एक कल्पना संसार के सृजन पर बल दिया। इससे 'यथार्थ' और 'आदर्श' का विच्छेद ज्यों-का-त्यों बना रहा, आधुनिक हिन्दी साहित्य में शायद सबसे पहले मुक्तिबोध ने ही यांत्रिक यथार्थवाद के स्वरूप की सीमाओं को पहचाना और द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया (dialectical process) को यथार्थ की मूल विशेषता के तौर पर स्वीकार किया। उनके 'फैंटेसी' के सिद्धांत के बहुत सारे अर्थ हो सकते हैं, पर उन्होंने यथार्थ संसार के लिए भी इसे अस्त्र के रूप में प्रयोग किया। विभिन्न वस्तुएं एक साथ ही ठोस व तरल, काली व गोरी हो सकती हैं, सिफर व भीमकाय हो सकती हैं, जकड़ी हुई, अवरूद्ध तथा उद्वेलित, विज्ञप्ति भी हो सकती हैं, यह उनकी कविताओं से हम भली-भाँति जानने लगते हैं। यांत्रिक यथार्थवाद की मान्यताओं में आस्था रखनेवाले पाठक उनकी कविता पढ़ते हुए बार-बार विस्मित हो उठेंगे। लकड़ी का बना रावण, चम्बल की घाटी के पसरे फैलाव, परित्यक्त सूनी बावड़ी, चांद की आड़ी-तिरछी किरणें अथवा लकड़ी के सूखे डंठल उनकी कविता में एक साथ ही कई चीजें, कई प्रकार की चीजें, हो सकती हैं। उनके काव्य का वस्तुजगत ठोस, सुसम्बद्ध तथा लक्ष्यमान है, वहां वह अचंभे में डाल देने वाली अदृश्यता, विश्रृंखलता तथा अनपेक्षित घुमाव-फिराव लिये हुए भी है।

'मुझे नहीं मालूम' कविता में यांत्रिक यथार्थवाद की ओर मुक्तिबोध का रवैया स्पष्ट हो जाता है। 'धरित्री व नक्षत्र/तारागण'

आधुनिक हिन्दी साहित्य में शायद सबसे पहले मुक्तिबोध ने ही यांत्रिक यथार्थवाद के स्वरूप की सीमाओं को पहचाना और द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया (dialectical process) को यथार्थ की मूल विशेषता के तौर पर स्वीकार किया। उनके 'फैंटेसी' के सिद्धांत के बहुत सारे अर्थ हो सकते हैं, पर उन्होंने यथार्थ संसार के लिए भी इसे अस्त्र के रूप में प्रयोग किया। विभिन्न वस्तुएं एक साथ ही ठोस व तरल, काली व गोरी हो सकती हैं, सिफर व भीमकाय हो सकती हैं, जकड़ी हुई, अवरूद्ध तथा उद्वेलित, विज्ञप्ति भी हो सकती हैं, यह उनकी कविताओं से हम भली-भाँति जानने लगते हैं। यांत्रिक यथार्थवाद की मान्यताओं में आस्था रखनेवाले पाठक उनकी कविता पढ़ते हुए बार-बार विस्मित हो उठेंगे। लकड़ी का बना रावण, चम्बल की घाटी के पसरे फैलाव, परित्यक्त सूनी बावड़ी, चांद की आड़ी-तिरछी किरणें अथवा लकड़ी के सूखे डंठल उनकी कविता में एक साथ ही कई चीजें, कई प्रकार की चीजें, हो सकती हैं। उनके काव्य का वस्तुजगत ठोस, सुसम्बद्ध तथा लक्ष्यमान है, वहां वह अचंभे में डाल देने वाली अदृश्यता, विश्रृंखलता तथा अनपेक्षित घुमाव-फिराव लिये हुए भी है।

को संबोधित करके कवि कहता है कि अच्छा हो यदि 'वे यंत्र-बद्ध गतियों का ग्रह-पथ त्यागकर/ब्रह्माण्ड अखिल की सरहदें माप लें' पर वे सब तो

हृदय में महाशक्ति रखने के बावजूद
अंधे हैं नेत्र-हीन
असंग घूमते हैं अहेतुक
असीम नभस् में
चट्टानी ढेर हैं गतिमान अनथक
अपने न बस में।

इसी प्रकार मनुष्य भी 'यंत्र-बद्ध गतियों का ग्रह-पथ त्यागने में असमर्थ' होने पर अपने को 'अयास', 'अबोध', 'निरा सच' बना हुआ पाते हैं। मुक्तिबोध यांत्रिक यथार्थवाद द्वारा प्रस्थापित 'अपाहिज पूर्णताओं' को तोड़कर हमारे अन्तर की तथा ब्राह्य जगत् की वास्तविक पूर्णता का दिग्दर्शन करवाना चाहते हैं। यह एक झकझोर डालने वाला अनुभव हैं:

गणित के नियमों की सरहदें लांघना
स्वयं के प्रति नित जागना-
भयानक अनुभव

इस प्रकार मुक्तिबोध प्रदर्शित करते हैं कि भय और तन्द्रा के कारण जिसे हम यथार्थ मान बैठे हैं वह केवल सतही और अपूर्ण है। भय और तन्द्रा को त्यागते ही 'चट्टानी ढेरों' और 'सांचे में ढली हुई मूर्तियों' में दबी पड़ी महाशक्ति हमारे सामने आ जाएगी। यांत्रिक यथार्थवाद डर पर आश्रित है, यह स्पष्ट करते हुए कवि कहता है :

हमें तो डर है कि
खतरा उठाया तो
मानसिक यंत्र-सी बनी हुई आत्मा,
आदतन बने हुए अक्ऱृतन भाव-चित्र,
विचार-चरित्र ही,
टूट-फूट जाएंगे
फ्रेमें सब टूटेंगी व टण्टा होगा निज से
इसीलिए सत्य हमारे हैं सतही

यदि फ्रेमों के टूटने अथवा निज से टण्टा खड़ा होने से हम न डरते हों तो

सुनहली ज्वाला-सा
जागता है ज्ञान और
जगमगाती रहती है लालसा

यहां यह ध्यान देने योग्य है कि जगमगाती लालसा के सक्रिय होते ही यांत्रिक यथार्थवाद द्वारा उपेक्षित जिन तत्वों का ज्ञान हमारे अंदर जागता है, वह 'ज्वाला-सा' है। यह ज्ञान-ज्वाला हमारी जानी-पहचानी दुनिया के गर्भ से फूट पड़ती है पर वह दुनिया इसमें भस्म नहीं हो जाती, बल्कि और भी आलोकित-चमत्कृत हो उठती है। इस ज्ञान के जागने पर हम किसी स्वप्निल लोक में विचरण नहीं करने लगते, इसी दुनिया के अस्तित्व से घिरे रहते हैं। ज्वाला-सा ज्ञान तब जागता है, जबकि

प्रत्येक वृक्ष से करता हूं पहचान,
प्रत्येक पुष्प से पूछता हूं हालचाल
प्रत्येक लता से करता हूं सम्पर्क!!

आसपास के साधारण जगत से निकट-सम्पर्क बनाने पर ही उसकी पूर्ण वास्तविकता का साक्षात्कार होता है न कि उसे नकार देने से। इस प्रकार रहस्यवादी कवियों द्वारा साधारण यथार्थ के त्यागने में और मुक्तिबोध द्वारा उसका विस्तार करने में एक मूलभूत अंतर है। जैसा कि 'मुझे कदम-कदम पर' के आरंभ में कवि कहता है :

मुझे कदम-कदम
चौराहे मिलते
बांहें फैलाए।
एक पैर रखता हूं
कि सौ राहें फूटती,

और कवि को यह 'भ्रम' होता है कि 'प्रत्येक पत्थर में/चमकता हीरा है,/हर-एक छाती में आत्मा अधीरा है,' 'प्रत्येक वाणी में/महाकाव्य-पीड़ा है।' इस सजग स्पन्दनशीलता के कारण ही मुक्तिबोध के मामूली-से-मामूली विवरणों में भी वस्तुजगत् की सम्पूर्ण वास्तविकता की झलक आ जाती है। 'इस चौड़े ऊंचे टीले पर' कविता के आरंभ में दिए गए इस चित्र को देखिए

भूरे केसरिया सूखे घास के रोम-
आवरण-ढंके-से
हम चौड़े ऊंचे टीले पर-
जहां दीखता
उलझे टूटे हुए गिर पड़े कठिन कंटीले
राखी रंग के तारों वाला एक अहाता
वहां उजाड़ हवा है
जिसके भूरे तल में
जगह जगह पीले जंगली फूलों के कारण
कटा-पिटा दीखता रास्ता

इस दृश्य-चित्रण की विशेषता केवल यही नहीं कि सामने पड़ी वस्तुओं को दृष्टि गड़ाकर गिना दिया गया है। कुल मिलाकर ये चीजें-सूखा घास, कंटीले तार, पीले जंगली फूल आदि -- एक ऐसी सघन वास्तविकता का संयोजन करती है जिसे केवल एक बार दृष्टि डालने से देखा-समझा नहीं जा सकता। कुछ चुने हुए विशेषज्ञों द्वारा तथा वाक्य-विन्यास द्वारा वस्तुस्थिति के आंतरिक मर्म की झलक दे देने की कवि यहां कोशिश करता है। 'सूखे घास के रोम-आवरण', 'उलझे', 'गिरे पड़े', 'कठिन कंटीले', 'उजाड़ हवा', 'कटा-पिटा रास्ता' आदि पारिभाषिक शब्दों पर ध्यान देने से मालूम होगा कि कवि ने किस प्रकार सतह पर अंकित कंटूरों (Contours)के साथ-साथ वस्तुस्थिति की आंतरिक द्वंद्वात्मक संभावनाओं को भी परिलक्षित कर दिया है। इसीलिए विवरण में सजीव मूर्तता तथा नाट्यात्मक ऊर्जा आ गई है। सघन और गत्यात्मक मूर्तता का ऐसा प्रभाव व्यक्तिवादी दृष्टिकोण रखने वाला कवि अक्सर उत्पन्न नहीं कर पाता, क्योंकि व्यक्तिवादी दृष्टि वस्तुओं को विघटित करके फुटकर इकाइयों के ढेर के रूप में ही देख पाती है। 'अंधेरे में' कविता में दिए गए रात्रि के वातावरण के इस चित्रण को भी देखिए :

सूनी है राह, अजीब है फैलाव,
सर्द अंधेरा
ढीली आंखों से देखते हैं विश्व
उदास तारे।
हर बार सोच और हर बार अफसोस
हर बार फिक्र
के कारण बढ़े हुए दर्द का मनों कि दूर
वहां, दूर वहां
अंधियारा पीपल देता है पहरा।
हवाओं की निःसंग लहरों में कांपती
कुत्तों की दूर-दूर अलग-अलग आवाज,
टकराती रहती सियारों की ध्वनि से
कांपती हैं दूरियां, गूंजते हैं फासले
(बाहर कोई नहीं, कोई नहीं बाहर)

क्योंकि मुक्तिबोध की कविताएं नाट्यात्मक होती हैं। इसलिए किसी भी विवरण की पूर्ण सार्थकता उसके संदर्भ से जुड़ी रहती है। जो कुछ एक स्थल पर सामने आता है उसकी कांट-छांट के लिए पुष्टि, खण्डन अथवा संशोधन के लिए कविता के विकास-क्रम में किन्हीं दूसरे स्थलों पर कुछ और भी हो सकता है। पर संदर्भ से अलग होते हुए भी इस विवरण की सघन मूर्तता हमें तत्काल दिखाई देगी। यहां लगता है कि कवि ने दूर और पास की वस्तुओं को, उनके परस्पर आघात-प्रत्याघातों को, एक साथ ग्रहण करने का

प्रयत्न किया है। उदास तारे, अंधियारा पीपल, हवाओं की लहरें, कुत्तों की आवाज, सियारों की ध्वनि तथा इन सबको देखने-सहने वाला व्यक्ति-ये सब एक विशिष्ट वस्तुस्थिति के अभिन्न अंग बनकर हमारे सामने आते हैं। कवि इनके पृथक अस्तित्व की ओर भी सजग रहता है। (कुत्तों की दूर-दूर अलग-अलग आवाज) और साथ ही इनके परस्पर टकरावों को तथा इनकी परस्पर-निर्भरता को भी पूरी तरह महसूस करता है। वस्तुस्थिति का ऐसा कसकदार मूर्त चित्रण तभी संभव हो सकता है जब कवि आसपास के जीवन में पूर्णतया प्रतिबद्ध होकर भाग लेता रहे। अज्ञेय सरीखे व्यक्तिवादी कवि चारों ओर की जीवन-धाराओं को अलग-थलग होकर दूर से ही देखते हैं और इस प्रकार केवल इनके सपाट बिछे सतही फैलाव का विवरण दे पाते हैं।

मुक्तिबोध अनुभव-जगत के आभ्यन्तर एवं बाह्य पक्षों के द्वंद्व अंत:संबंधों पर जोर देते हैं। उनके काव्य में जहां बाह्य जगत आभ्यन्तरीकृत होकर बिम्बित होता है, वहां अंत:करण की गुत्थियों का चित्रण वस्तुजगत् की विभिन्न प्रक्रियाओं के माध्यम से होता है। 'नक्षत्र खण्ड' अथवा 'चम्बल की घाटी में' जैसी कविताओं में किसी दृश्य-विशेष का वर्णन तो प्रस्तुत होता है ही, पर इस माध्यम से किसी विशेष व्यक्ति के मनस्तत्वों का प्रदर्शन भी हो जाता है। 'नक्षत्र खण्ड' में इस वर्णन को देखिए :

मैदानी हवाओं में
चमकती चिलमिलाती दूर
वह भूरी पहाड़ी, या उपेक्षित तत्व का टीला
कि सतही जानकारी में अजाना
जिंदगी का स्तर तुम्हारी दृष्टि में
भूरी पहाड़ी-सा खड़ा वीरान--
तुम मेरे लिए वैसे कठिन बंजर
खड़े भूरे शिखर

यहां चमकती-चिलमिलाती भूरी पहाड़ी उन उपेक्षित तथ्यों का प्रतीक बन जाती है, जो अहंग्रस्त व्यक्तियों की 'सतही जानकारी' में अजाने रह जाते हैं। इन व्यक्तियों को अपना जीवन-नीरस, वीरान, भूरा और बंजर दिखाई देता है, तो इसलिए कि वे अपनी सीमाओं में जकड़े रहते हैं। यदि अपने 'गहन परिचित' (पर वास्तव में अपरिचित) जीवन-ढर्रे को वे तोड़ दें, बंजर भूमि में उगी 'पीली घास' काट डालें और 'चटियल भूमि' तोड़कर 'शुद्ध ताजा जल' निकाल लें, तो जिंदगी के चिलमिलाते इन पठारों' का स्वरूप ही न बदल जाए। इस प्रकार व्यक्तिगत-विस्तार के लिए 'वृथा की भद्रता और शिष्टता के नियम सारे' तोड़ डालने की मानसिक चेष्टा को मुक्तिबोध उचित दृश्य-चित्रों द्वारा लक्षित करते हैं।

अवरुद्ध व्यक्तित्व की जड़ीभूत सतह के पीछे जो भय और चिंता की लहरें चलती रहती हैं, शून्य छटपटाते हुए उद्देश्यों से तथा थमे हुए आवेगों से जो आंतरिक अव्यवस्था बनी रहती है, उसका चित्रण 'चम्बल की घाटी' कविता में 'कटे-उठे पठारों' में होने वाली हलचल के माध्यम से किया गया है और जड़ीभूत अवस्था से मुक्ति पाने का कठिन द्वंद्वपूर्ण ड्रामा भी इसी हलचल के सहारे पेश किया गया है। 'अचानक दिमाग/उलट-पुलट होता है' और लगता है कि ये 'गोल टीले व पत्थरी उभार, जिंदा है सच।' कभी ये ज्ञानी और त्यागी पुरुष थे जिन्हें कोई जादूगर 'प्रलोभन-सूत्रों' में बद्ध करके 'शिला रूप दे गया।' उसी जादूगर ने कुछ 'चेतना-दीप्तियों' के 'रत्न कोष' खतरनाक समझकर नीचे छुपा दिए। अपनी पुरानी 'छलनाएं असफल होते हुए देखकर' वह जादूगर 'इंद्रजाल त्याग' दस्यु बन जाता है, 'हथियार-कारखाने चुपचाप' कायम करता है और आतंक फैलाता है। चम्बल की घाटी में बसे छोटे गांव में आग लगाकर वह दूर पठारों पर बैठा दहकती हुई 'नारंगी, कत्थई, गेरुई ज्वाला' को देखता है। इस प्रकार टीले के भीतर और बाहर होने वाली घटनाएं एक निजबद्ध व्यक्ति के मनस्तत्व की परतों को उघाड़ती चलती हैं। ऐसा व्यक्ति स्थिति की जकड़ से तथा विरोधी तत्वों के तनाव से तंग आकर किस प्रकार अपराधी भाव से अपनी त्रुटियां स्वीकार करने की चेष्टा करता है पर वास्तव में इस अवसर को भी अपनी सफाई दे डालने के प्रयास में बदल देता है यह कवि ने टीले के मुख्य प्रतीक द्वारा ही दर्शाया है।

खुद के बनाये ये सभी शिकंजे
उनके पंजों से छुटकारा हो अब।
प्रकाण्ड अनबन,
जिन से ही संघर्ष
चाहिए मुझको दीप्त अनवस्था
इतनी कि स्वयं ही टूटकर
शून्य गगन में
ब्रह्माण्ड-धूल के परदे-सा बन जाऊं
फैल जाऊं, तन जाऊं।

यह 'शून्य गगन में ' फैल जाना और तन जाना वास्तव में आत्मालोचन के नाम पर आत्म-स्वीकृति का ही द्योतक है। मुक्तिबोध अहंवादी व्यक्ति की इस 'दिल सहलाने की खुशनुमा तरकीब' की असलियत को पहचानते हैं, पर यह भी जानते हैं कि 'आंय-बांय-शांय के सिवाए भी उसमें/खुदगर्ज हाय के सिवाय भी उसमें,/कुछ तेजस्क्रिय सत्यों के अणु हैं।' 'चट्टानी टीले की जमी हुई तह' और उसके भीतर दबे पड़े रत्नकोषों के बीच तनाव उग्र होता जाता है और वह टीला 'भभककर अग्निमान' हो उठता है। सवालों के आघात, 'विचारों की लाठियां', 'तेज-तेज व्यंग्यो की ईंटें' चलती हैं और 'टीले के वक्ष में सब-कुछ ध्वस्त' हो जाता है पर 'पाषाणी कारा' फिर भी दृढ़ बनी रहती है। उसी समय 'ताजी हवाओं के हजारों बहावों' का 'निर्णायक हस्तक्षेप' होता है और इस टीले में गतिमय सामंजस्यों (के) व्यापक/क्रमश: विकसन/ पुन: संगठन, पुन: परीक्षा, पुन: प्रवर्तन,/पुनरपि परिणति' की असली मनोकामना जागृत होती है। सहलाते हुए थपेड़ों द्वारा हवा उस टीले को अपनी वास्तविकता का अहसास कराती है और समझाती है कि उसकी ही 'निज संदर्भ', 'निज-सम्बन्ध', 'गहन निजात्मक', 'गुप्त प्रक्रिया' उसकी छाती पर दस्यु-रूप में बैठी है, 'छाती पर चढ़ी हुई दुष्ट सत्ता' उसी का 'मात्र बृहत्कृत बिम्ब है', टीले को यह याद दिलाते हुए कि

कभी अकेले में मुक्ति न मिलती,
यदि वह है तो सबके ही साथ है।
हवा उससे कहती है
कट जाओ, टूट जाओ।
टूटने से विस्फोट-शब्द जो होगा
गूंजेगा जग-भर
किंतु, अकेली की, तुम्हारी ही वह सिर्फ,
नहीं होगी कहानी!!

इस कविता से यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि मुक्तिबोध के काव्य में व्यक्ति के अंतर की वास्तविकता भी बाह्य जगत् की वास्तविकता की तरह बहुस्तरीय गत्यात्मक एवं द्वंद्वपूर्ण होती है। परन्तु जिस प्रकार के व्यक्तित्व का विश्लेषण यहां दिया गया है उससे मुक्तिबोध द्वारा प्रस्तुत व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का सही मूल्यांकन भी सामने आ जाता है। ऐसे अहंग्रस्त व्यक्तित्व की खोखली, जड़ीभूत महानता

का विश्लेषण हमें 'ब्रह्मराक्षस' तथा 'लकड़ी का बना रावण' कविताओं में भी मिलता है। ब्रह्मराक्षस के अंतर में मैल, प्राणों में स्याह संवेदना, दिमाग में उलझन और हृदय में पागलपन है पर वह अपने अहं में जकड़ा रहता है, ज्ञानी ध्यानी और सुसंस्कृत व्यक्ति होने का आडम्बर रचे रहता है। 'पूर्ण निष्कर्षों तलक' पहुंच पाने की विवेक-शक्ति उसमें है नहीं, इसलिए जीने पर चढ़ने, उतरने और लुढ़कने के क्रम में ही अपना सारा जीवन गंवा देता है तथा असफलता और विषाद के सिवाए उसे कुछ नहीं मिलता :

आत्मचेतन किंतु इस
व्यक्तित्व में थी प्राणमय अनबन...
विश्वचेतस् बे-बनाव!!
महत्ता में चरणा था
विषादाकुल मन!

'लकड़ी का बना रावण' में भी एक निज-बद्ध व्यक्तित्व के खोखले विराट् रूप का चित्रण हुआ है :

उस शैल-शिखर पर
खड़ा हुआ दीखता है, एक द्यौः पिता भव्य
निःसंग
ध्यानमग्न ब्रह्म...
मैं ही वह विराट् पुरुष हूं
सर्व-तंत्र, स्वतंत्र, सत्-चित्!!

लेकिन ऐसा व्यक्तित्व वास्तव में 'बांस के व कागज के पट्ठे के बने हुए/ महाकाव्य रावण-सा हास्यप्रद' होता है और अंदर-ही-अंदर अपने खोखलेपन से भयभीत बना रहता है :

मैं मन्त्र-कीलित-सा, भूमि में गड़ा-सा
जड़ खड़ा हूं
अब गिरा, तब गिरा
इसी पल कि उस पल...

'ब्रह्मराक्षस', 'लकड़ी का बना रावण', 'एक अन्तर्कथा' तथा अन्य कई कविताओं में मुक्तिबोध की विचारधारा की व्यक्तिवादी परम्परा से भिन्नता का एक और पहलू भी स्पष्ट होता है। व्यक्तिवादी परम्परा के अंतर्गत इतिहास की उपलब्धियों की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया जाता। वर्तमान को अतीत से बहुधा बिल्कुल ही काट दिया जाता है और भविष्य को वर्तमान के सीधे सरल विस्तार के रूप में देखा जाता है। इस प्रकार इतिहास की गति एक निरंतर द्वंद्वात्मक प्रक्रिया न होकर पृथक-पृथक क्षणों का क्रम बनकर रह जाती है। वास्तव में किसी भी विशिष्ट 'क्षण' के स्वरूप को हम सभी पहचान सकते हैं, जबकि ऐतिहासिक प्रक्रिया में उसका स्थान निश्चित कर लिया गया हो और यह देख लिया गया हो कि उस विशिष्ट बिन्दु पर जहां 'क्षण' का प्रादुर्भाव हुआ है इतिहास में पाई जाने वाली विभिन्न परम्पराएं किस रूप में गतिमान हैं और उसके बीच तनाव की तीव्रता किस प्रकार की है। मुक्तिबोध के काव्य में ऐतिहासिक तथ्यों का ऐसा विश्लेषण हमें अवश्य मिलता है। 'ब्रह्मराक्षस' में एक अहंग्रस्त व्यक्तित्व की आंतरिक अव्यवस्था का ही चित्रण नहीं मिलता, वरन् परित्यक्त सूनी बावड़ी/ के भीतरी / ठंडे अंधेरे में/ बसी' जल की गहराइयों तथा उसमें डूबी सीढ़ियों के माध्यम से भारतीय संस्कृति के एक विशिष्ट पक्ष के अंतिम रूप की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया जाता है। जिस प्रकार बावड़ी के 'पुराने घिरे पानी' में अंदर-ही-अंदर अजीब कुलबुलाहट होती है, वैसे ही अतीत की एक विशिष्ट जड़ हुई सांस्कृतिक परम्परा भी आज के सामाजिक जीवन में कुछ खलबली मचाती रहती है।

मुक्तिबोध जानते हैं कि किसी भी ऐतिहासिक परम्परा से एकदम छुटकारा नहीं पाया जा सकता। हम उसे मृतप्राय समझते हों तब भी कुछ हद तक तो वह गतिमान बनी रहती ही है और उसका प्रेत हमारे जीवन में बैठा रहता है। किसी दूसरी परम्परा को अपनाकर ही हम उसे पूर्णतः परास्त कर पाते हैं। 'एक अन्तर्कथा' में यह विशेष रूप से स्पष्ट किया गया है कि उपेक्षित परम्परा की उपलब्धियों के बल पर किस प्रकार हम जीवन में नई स्फूर्ति ला सकते हैं। आज के सुविधावादी समाज ने बहुत सारा मानवीय ज्ञान निरर्थक समझकर कचरे की तरह फेंक दिया है पर विरोधी परम्परा से सम्पर्क रखने वाले लोग उसे सूखे डण्ठलों की तरह कचरे में से बीनकर नई आग जलाते हैं :

अन्तर्जीवन के मूल्यवान् जो संवेदन
उनका विवेक-संगत प्रयोग हो सका नहीं
कल्याणमयी करुणाएं फेंकी गई
रास्ते पर कचरे-जैसी
मैं चीन्ह रही उनको
जो गहन अग्नि के अधिष्ठान
है प्राणवान्
मैं बीन रही उनको
घर के बाहर आंगन में मैं सुलगाऊंगी
दुनिया-भर को उनका प्रकाश
दिखलाऊंगी

बरगद का पेड़ तथा उसमें आश्रय पाने वाले बहुत से पक्षी एवं अन्य जीव, पेड़ के नीचे आसीन भैरों की गेरुई मूर्ति, टूटा हुआ अंधियारा कुआं, जिसके आसपास झाड़-झंखाड़ उगे हैं, पुराना टावर, तिलक और गांधी की पाषाण मूर्तियां तथा उन पर बैठे घुग्घू, पीड़ा की रामायण, तुलसीवन में अकेले खड़े अर्जुन - ऐसे अनेक प्रतीक हैं, जिनके माध्यम से मुक्तिबोध वर्तमान और अतीत के पेचीदा संबंधों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं और वर्षों से चले आ रहे जीवन-तत्वों के वर्तमान स्वरूप की सटीक व्याख्या पेश करते हैं।

वर्तमान और भूतकाल की संश्लिष्टता के अतिरिक्त आज के सामाजिक जीवन में सक्रिय रूप से काम करने वाली विभिन्न विरोधी परम्पराओं को एक साथ रखकर भी मुक्तिबोध अपने काव्य में सामाजिक जीवन की सम्पूर्ण वास्तविकता का नाट्यात्मक चित्रण करते हैं। दृश्य-चित्रों के संदर्भ में पहले ही बताया जा चुका है कि साधारण विवरणों में भी मुक्तिबोध वस्तुस्थिति की गत्यात्मकता और द्वंद्वात्मकता की यथेष्ट झलक दे जाते हैं। सामाजिक व्यवस्था के चित्रण में यह विशेषता और भी स्पष्ट हो जाती है। सामाजिक जीवन के किसी चित्र में मानवीय सार्थकता कितनी है यह हम कविता में प्रस्तुत अन्य चित्रों के साथ उसके तुलनात्मक सम्पर्क से समझ पाते हैं। 'मुझे याद आते हैं' कविता में मुक्तिबोध ने पहले तो एक निम्न-मध्यवर्गीय औसत आदमी के 'मात्र अस्तित्व की रक्षा में व्यतीत हुए दिनों' की निरर्थकता का चित्र पेश किया है :

आज के अभाव के व कल के उपवास के
व परसों की मृत्यु के...
दैन्य के, महा-अपमान के, व क्षोभपूर्ण
भयंकर चिंता के उस पागल यथार्थ का
दीखता पहाड़...
स्याह!

इसके बाद चांदनी रात में चमकती हुई एक खुशहाल गली का वर्णन आता है :

चलता हूं कि देखता हूं, नगर का
मुस्कराता व्यक्तित्व महाकार,
दमकती रौनक का उल्लास,
चहचहाती सड़कों की साड़ियां।

'व्यंग्य की विषैली चांदनी' के माध्यम

से कवि इस दमकती हुई रौनक को तथा स्याह पहाड़ को परस्पर जुड़ा हुआ देख पाता है और इस सम्पर्क से दोनों का सही मूल्यांकन हो जाता है। 'पानी हुई चमक से चमककर' चांद 'व्यंग्य मुस्काराता है' तो लगता है :

कि समस्त स्वर्गीय चमचमाते आभालोक वाले
इस नगर का निजत्व जादुई
कि रंगरन मायाओं का प्रदीप्त पुंज यह
नगर है अययार्थ

दैन्य, अपमान और चिंता के पहाड़ को 'पागल पदार्थ' के रूप में देख पाना और नगर की रौनक के जादुई, अययार्थ स्वरूप को पहचानना तभी संभव हो सका, जब उनके द्वंद्वात्मक संबंध की ओर ध्यान देकर उनकी तुलना की गई। सामाजिक जीवन के इन पहलुओं से फिसलकर दृष्टि किसी अन्य आभालोक में नहीं खो जाती। इन चित्रों के बाद आंखों के सामने साधारण जीवन की यह तस्वीर उभरकर आती है :

आंखों में तैरता है चित्र एक
उर में संभाले दर्द
गर्भवती नारी का
कि जो पानी भरती है वजनदार घड़ों से,
कपड़ों को धोती है भाड़-भाड़
घर के काम बाहर के काम सब करती है,
अपनी सारी थकान के बावजूद।

श्रमशील मानतवा के ये सीधे-सादे चित्र दूसरे सामाजिक वर्गों के जीवन के खोखलेपन का सही मूल्यांकन करने में तो सहायक होते हैं ही, इनमें प्रदर्शित आडम्बरहीन आशावादिता से संघर्ष में दृढ़ता से जमे रहने की प्रेरणा भी मिलती है। मुक्तिबोध की कविता में जब कभी नए जीवन का संचार होता है, तो इसी पद-दलित मानवता के दृढ़-संकल्प और अदम्य साहस को देखकर :

यदि उस श्रमशील नारी की आत्मा
सब अभावों को सहकर
कष्टों को लात मार, निराशाएं ठुकराकर
किसी ध्रुव-लक्ष्य पर
खिंचती-सी जाती हैं,
जीवित रह सकता हूं मैं भी तो वैसे ही!

अज्ञेय और मुक्तिबोध के भावबोध में जो मुख्य अंतर है, वह श्रमशील मानवता के चित्रण में विशेष रूप से झलकता है। मुक्तिबोध तो कह सकते हैं कि

झुलसी हुई आत्मा की अनगिन लकीरें
मुझे जकड़ लेती हैं अपने में, अपना-सा जानकर

पर अज्ञेय की सामान्य प्रवृत्ति झुलसी हुई आत्माओं के निकट जकड़े न रहकर दूर चले जाने और व्यक्ति-स्वातन्त्रय के नाम पर यायावर बने रहने की होती है।

श्रमिक वर्ग तथा जनसाधारण के जीवन की घुटन को नजदीक से महसूस करने की प्रेरणा देने वाले मानवतावाद से मुक्तिबोध की कविता को विशेष बल मिलता है। जन-साधारण के संचित अनुभवों को अपनी कविता में उतार लाने के लिए वे बहुत से तरीके अपनाते हैं। कभी वे उस 'काव्यात्मक फणिधर' की कल्पना करते हैं जो अधीर गति से इधर-उधर पिछवाड़े के ढेरों में, झाड़ियों में, पुराने वट वृक्ष के नीचे, जाकर जनसाधारण के दुखों के विष को पीता है और थर्राता है, कचरे की परतों में से उन जीवनानुभव-रत्नों को उघारता है, जिन्हें असुविधाजनक समझकर समाज ने फेंक दिया था तो कभी चांद की उस अय्यारी रोशनी के साथ चलते हैं, जो दीवारों को फांदकर, छत्तों से होकर, घर-आंगन उतरती है, कमरों में घूसती है, पुलों के नीचे चक्कर लगाती है, पेड़ की शाखाओं में तथा तने के पास सोये हुए प्राणियों तक पहुंचती है और इस प्रकार किसी न किसी माध्यम से साधारण जीवन के विविध दृश्यों का सजीव चित्रण अपनी कविता में करते रहते हैं।

तीव्र आंतरिक संघर्ष के बाद अथवा जनसाधारण से स्नेहपूर्ण सम्पर्क स्थापित हो जाने पर जब व्यक्तित्व के विचार का निर्णायक बिंदु आ जाता है और नया जीवन अचानक सामने आ जाता है तो उस क्षण के नाट्यात्मक चित्रण के लिए या फिर बाह्य जगत् की नई संभावनाओं को लक्षित करने के लिए मुक्तिबोध जिन प्रतीकों को चुनते हैं, उनमें से कुछ हैं बिजली का झटका, एकदम भभक उठने वाली ज्वाला, सहसा खुल पड़ने वाला गुहाद्वार, अचानक फूट कर बह निकलने वाला जलस्रोत अथवा तेजी से विकीर्ण होती हुई रेडियोएक्टिव किरण। क्योंकि मुक्तिबोध की कविता में तिलस्मी लोह का जादुई करामात का, अचानक मिल जाने वाले कीमती पत्थरों का तथा तुरंत बह निकलने वाले झरनों का कई बार जिक्र आता है, हमें भ्रम हो सकता है कि ये सब रहस्यवादी मनोभावना के द्योतक हैं। इनसे हम शायद यह अनुमान लगाने लगें कि मुक्तिबोध वस्तुजगत् के नियमों की उपेक्षा कर इच्छापूर्ति के काल्पनिक संसार में विचरण करने को लालायित रहते हैं। पर जिन संदर्भों में कवि ने इन बिम्बों का प्रयोग किया है, उनसे यह स्पष्ट हो जाएगा कि नियमों का उल्लंघन करने की उत्कट लालसा के दबाव में आकर नहीं, वरन् वस्तुस्थिति में ही अन्तर्निहित तथ्यों को उजागर करने के लिए अथवा चेतना के विस्तार का नाटकीय चित्रण करने के लिए बिम्बों को चुना गया है। ऐसे निर्णायक स्थलों पर कवि की विवेक-दृष्टि कायम रहती है और साधारण जगत् की वस्तुओं की हस्बमामूल तरतीब को वह भूलता नहीं। जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है सतही यथार्थ की सीमाओं को आंककर नई संभावनाओं की ओर संकेत करना मुक्तिबोध के लिए कोई मदहोश करने वाला अनुभव नहीं, वरन् एक ऐसी आग का सम्पर्क है, जो उन्हें नचा डालती है :

अधूरी और सतही जिंदगी के गर्म रास्तों पर,
अचानक सनसनी भौंचक
कि पैरों के तलों को काट-खाती कौन-सी यह आग?
जिससे नच रहा-सा हूं
खड़ा भी हो नहीं सकता, न चल सकता।

हर पल चीखता हूं शोर करता हूं
कि वैसी चीखती कविता बनाने में लजाता हूं।

'नच रहा-सा'--इस प्रकार के शब्द-चयन से स्पष्ट हो जाना चाहिए कि अनुभव को बिल्कुल सही तरह से परिभाषित करते रहने वाली कवि की विवेक-बुद्धि सजग बनी रहती है। आग पर नाचते हुए भी सामाजिक शिष्टताओं को वह भूल नहीं जाता और 'चीखती कविता' लिखने से इसीलिए लजाता है। क्योंकि 'अनुभव-दीप्त मानव-ब्रह्म की संवेदना का भव्य अनुशासन' 'मुक्तिबोध के लिए हमेशा बना रहता है, वे रहस्यवादी पलायन से बचे रहते हैं।' 'मेरे सहचर मित्र' अथवा 'एक अन्तर्कथा' जैसी कविताओं से यह और भी स्पष्ट हो जाता है।

'एक अन्तर्कथा' का नायक जब सूखे डण्ठलों से भरी हुई टोकरी सिर पर उठाकर

चलता है तो सहसा उसका तन रोमांचित हो उठता है। उसे लगता है कि 'दरवाजे दुनिया के सारे खुल जाते हैं।' वह पुलकित हो उठता है और अपने को एक 'फेण्टेसी' में 'विचरण करता-सा' पाता है। पर उसकी मां का सीधा-सादा खरा व्यक्तित्व उसे सपने में विभोर हो जाने से बचा लेता है।

सपने से जाग कर पाता हूं सामने वही
बरगद के तने सरीखी वह अत्यंत कठिन
दृढ़ पीठ अग्रयायी मां की
युग-युग अनुभव का नेतृत्व
आगे-आगे
मैं अनुगत हूं।

मां की अत्यंत कठिन दृढ़ पीठ का ध्यान उसे चेतना के महत्वपूर्ण क्षण में भी साधारण जीवन की वास्तविकताओं से सम्पृक्त रखता है तथा मां की 'गिरस्तन आत्मा' का नेतृत्व उसे भटक जाने से बचाए रखता है। टोकरी का भार कुछ देर बाद उसे मानव-शिशु का-सा लगता है और फिर यह भार इतना बढ़ जाता है कि उसे लगता है कोई देवाकृति उसे दबाये जा रही हो। जिम्मेदारियों के इस बढ़ते हुए भार को संभाले रखने के लिए वह भी तन जाता है, आत्म-विस्तार कर लेता है और उसे लगता है कि 'नभ मेरे हाथों पर आता।' परन्तु यहां भी जब संतुलित परिप्रेक्ष्य खतरे में पड़ने लगता है तो

बस, तभी तलब लगती है बीड़ी पीने की।

इस प्रकार एक साधारण व्यक्ति होने का ध्यान आते ही :

वह विकृत आइना मन का सहसा टूट गया
जिसमें या तो चेहरा दिखता था बहुत बड़ा
फूला-फूला
या अकस्मात विकलांग छोटा-छोटा-सा

अत: कविता में यद्यपि फैण्टेसी द्वारा मामूली सूखी टहनियों की टोकरी में से 'मानव-परम्परा' के रोमांचकारी चित्र सामने उभरते जाते हैं तो भी वस्तुस्थिति की सही पहचान ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। 'रूखी टहनी', 'सूखी डालें' जो कुछ हैं वही बनी रहती हैं, उस समय भी जब उनको 'अग्नि के अधिष्ठान' के रूप में पहचान लिया जाता है और उनकी क्रांतिकारी संभावनाएं उद्घाटित होती हैं। 'मेरे सहचर मित्र' में भी कवि व्यक्तित्व-विस्तार का दिग्दर्शन करवाता है, पर आइना यहां भी विकृत नहीं होने पाता। इस कविता में व्यक्तित्व-विस्तार की प्रक्रिया मुख्यत: दूसरों की पीड़ा झेलने की क्षमता पर निर्भर दिखाई गई है। आत्मा का गुहाद्वार झट से तभी खुलता है, जब मानव-पीड़ा से हमारा निकट-सम्पर्क हो जाता है। इस प्रकार का आत्म-विस्तार कैसे जागृत विवेक की अपेक्षा रखता है, यह दिखाने के लिए कवि ने एक विशेष प्रतीक हमारे सामने रखा है :

रस-मर्मज्ञाओं की सेना स्नेहान्वेषी,
पर डंक सतत् तैयार,
बुद्धि का नित सम्बल।
मधुमक्खी दल ने जिन्दगियों के फूलों से
रस-बिन्दु-मधुर एकत्रित कर संचित रखने
मेरे प्राणों में
अग्नि-परीक्षाओं से गहरे छेद किये
छाती मधुपूरित अनगिन छेदों का जाला
आत्मा में मधुमक्खी का है छत्ता फैला!!

जीवन की पूर्ण वास्तविकता को अपनी कविता में उतार लाने के लिए मुक्तिबोध को मधुमक्खी की तरह 'रस-मर्मज्ञ' 'स्नेहान्वेषी' होना पड़ता है, पर साथ ही बुद्धि के डंक को नित झेलने को भी तैयार रहना होता है। बहुत सारी 'अग्नि-परीक्षाओं' के गहरे छेद धारण करने के बाद ही छाती 'मधुपूरित' हो सकती है। डंक और मधु को मुक्तिबोध कभी अलग नहीं करते तथा उनकी कविता में रस, स्नेह, पीड़ा और विवेक एक साथ मिलते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चेतना के आकस्मिक निर्णायक विस्तार के लिए तथा बाह्य जगत् के अदृष्ट स्तरों अथवा आयामों को उद्घाटित करने के लिए कुछ चमत्कारपूर्ण, अतिनाटकीय बिम्बों का तथा फैण्टेसी का खुला प्रयोग करने के बावजूद मुक्तिबोध को रहस्यवादी कवि मानना बहुत बड़ी भूल होगी। यदि आधुनिक साहित्य में कोई कवि अपने आस-पास के सामाजिक दबावों से घिरा हुआ रहकर उनकी वास्तविकता को झेलता है, तो वह है मुक्तिबोध। आज के वातावरण में पलने वाले व्यक्ति के अंदर कई स्तरों पर चल रहे संघर्ष की तथा इसके साथ ही बाह्य जगत् की द्वन्द्वपूर्ण विविधता की सबसे सघन अभिव्यक्ति संभवत: उनकी 'अंधेरे में' कविता में हुई है।

यहां हम देखते हैं कि भीत के फूले हुए पलस्तर गिर पड़ते हैं और एक बड़ा चेहरा बन जाता है, तिलस्मी खोह का शिलाद्वार धड़ से खुलता है और 'रक्ता-लोक-स्नात पुरुष एक' साक्षात् रहस्य-सा सामने आता है, खोह के भीतर तेजस्क्रिय मणियां हाथ लगती हैं, तिलक की पाषाण-मूर्ति से नीली चिंगारियां निकलती हैं तथा उसकी नासिका से खून बहता है, कई मानवाकृतियां थोड़ी देर दिखाई देकर लुप्त हो जाती हैं, कंधे पर अचानक एक शिशु आ जाता है, फिर उसके स्थान पर रह जाता है सूरजमुखी फूलों का गुच्छा, वही गुच्छा फिर एक बंदूक बन जाता है। कविता का सारा वातावरण ही वास्तव में एक स्वप्न-कथा का बना रहता है। पर फिर भी भारतीय समाज का जैसा मार्मिक चित्रण कवि ने यहां कर दिया है वैसा और कहीं बहुत कम मिलेगा। फैण्टेसी के इन तत्वों के होते हुए भी (वास्तव में इनकी ही बदौलत) आज के जीवन के समूचे आतंक का, मानसिक पीड़ा और बेचैनी का तथा भद्र समाज द्वारा अपनाए गए जीवन-मूल्यों के विकराल रूप का बड़ा भावपूर्ण एवं मूर्त चित्रण यहां हुआ है। स्वप्न-कथा का रूप देकर कवि ने व्यक्तित्व की उन सभी आंतरिक गुत्थियों को, जो साधारणत: अवचेतन में दबी-पड़ी रहती है, प्रखर रूप में सामने ला दिया है। जिस प्रकार किसी दु:स्वप्न में बाहरी दुनिया के विभिन्न विचित्र पक्ष उद्दीप्त होकर उभर आते हैं वैसे ही इस कविता में भी वस्तु जगत् के विविध दृश्य चमकते-दमकते-से सामने आते हैं और

चेतना के आकस्मिक निर्णायक विस्तार के लिए तथा बाह्य जगत् के अदृष्ट स्तरों अथवा आयामों को उद्घाटित करने के लिए कुछ चमत्कारपूर्ण, अतिनाटकीय बिम्बों का तथा फैण्टेसी का खुला प्रयोग करने के बावजूद मुक्तिबोध को रहस्यवादी कवि मानना बहुत बड़ी भूल होगी। यदि आधुनिक साहित्य में कोई कवि अपने आस-पास के सामाजिक दबावों से घिरा हुआ रहकर उनकी वास्तविकता को झेलता है, तो वह है मुक्तिबोध। आज के वातावरण में पलने वाले व्यक्ति के अंदर कई स्तरों पर चल रहे संघर्ष की तथा इसके साथ ही बाह्य जगत् की द्वन्द्वपूर्ण विविधता की सबसे सघन अभिव्यक्ति संभवत: उनकी 'अंधेरे में' कविता में हुई है।

हम उन्हें भूल नहीं पाते। परन्तु स्वप्न-कथा-सा रूप होते हुए भी स्वप्नों की विश्रृंखलता अथवना छलना यहां नहीं है। आरंभ से लेकर अंत तक कविता पर विवेक का अनुशासन बना रहता है। कौन से चित्र कहां और क्यों आए हैं यह कविता की बृहत् सार्थकता से निर्धारित होता है। विभिन्न बिम्ब और चित्र आपस में टकराते हैं और एक-दूसरे की पुष्टि अथवा संशोधन करते चलते हैं। इस प्रकार अन्तर्मन की तथा वस्तुजगत् की पूर्ण वास्तविकता का एक संतुलित परिप्रेक्ष्य से नाटकीय प्रदर्शन हो जाता है।

वर्तमान की परिधि को लांघने वाली निज-संभावनाओं, निहित प्रभावों, प्रतिभावों की झलक भी यहां मिलती है पर जोर मुख्यत: आज के वातावरण की विशेषताओं को स्पष्ट करने पर ही रहता है। 'मरी हुई खिंची हुई काली जिह्वा' सी लगती सड़क, 'मरे हुए दांतों का चमकदार नमूना' लिए हुए रोशनी के बल्ब, 'सैनिकों के पथराये चेहरे चिढ़े हुए, झुलसे हुए, बिगड़े हुए गहरे', नींद मे खाये हुए शहर के गहन अवचेतन में हो रही हलचल को नग्न रूप में दिखाने वाले मृतदल की 'शोभायात्रा' हृदय को दबोचते-से दीखने वाले 'काले-काले शहतीर छत के'--ऐसे बहुत सारे बिम्ब चित्र हैं, जो पूंजीवादी समाज के अदृष्ट अमानवीय यथार्थ को हमारी आंखों के सामने लाते हैं। इन बिम्बों से भी कहीं ज्यादा तीव्र प्रभाव उन मुद्राओं के क्रमिक विकास का पड़ता है, जिनमें से होकर कविता का नायक गुजरता है। उसकी बेचैनी, उसका सूनापन, उसकी पीड़ा, उसकी अपराध भावना, उसका मानसिक तनाव, उसकी दमित अभिलाषाएं-ये सब नाटकीय दृश्यों द्वारा हमारे मानसपटल पर अंकित हो जाते हैं और विभिन्न मुद्राओं के क्रमिक नाट्यात्मक विकास में अन्तर्निहित लाजिक से तथा शैली के व्यंग्पूर्ण अंदाज से इन मनोदशाओं का यथेष्ट विश्लेषण भी होता जाता है। मौके-बे-मौके दिखाई दे जाने वाले व्यक्ति के बिम्ब से सम्भाव्य मानवीय सम्पूर्ण अभिव्यक्ति का अहसास भी हमें यहां हो जाता है, पर कविता वास्तव में आज के कटु तथ्यों के धरातल पर ही बनी रहती है। तिलस्मी खोह में बन्द पुरुष के कभी-कभार भीड़ में दिखाई दे जाने से अथवा कुछ कीमती पत्थरों के मिल जाने से आज की वस्तुस्थिति की कटुता कम नहीं हो जाती, बल्कि इस वस्तुस्थिति में क्या नहीं है, इसकी ओर इशारा करके कवि उसकी संकीर्णता को और भी स्पष्ट कर देती है।

मुक्तिबोध की कृतियों में चेतना के ड्रामे की प्रधानता के कारण, फैण्टेसी तथा एलेग्री के तत्वों के प्रयोग के कारण और इन संगठनों तथा ढांचों के विस्तारपूर्ण वर्णन के अभाव के कारण, जिनके माध्यम से भौतिक शक्तियां सामाजिक जीवन के स्वरूप को निश्चित करती हैं, हम शायद यही समझें कि उनका मानवीय दृष्टिकोण पूर्णतया मार्क्सवादी नहीं है। पर इसका अर्थ यह नहीं लगाया जा सकता कि वे छायावादी अथवा उत्तर छायावादी व्यक्तिवाद के अंतर्गत ही आ जाते हैं। इतिहास को द्वंद्वात्मक प्रक्रिया के रूप में देखना और उसमें कुछ निर्णायक बिन्दुओं की कल्पना करना, व्यक्ति और समाज के संबंधों की पेचीदगी पर जोर देना, वर्ग-संघर्ष को सामाजिक जीवन का मुख्य तथ्य मानना, व्यक्तिगत सम्पूर्णता के सच्चे अर्थों में सामूहिक मानवीय प्रयासों से सम्बद्ध देखना, उच्च मध्यवर्ग तथा निम्न मध्यवर्ग की अवसरवादिता से मानवीय मूल्यों के विकृत हो जाने अथवा नष्ट हो जाने की संभावना को पहचानना, मानवीय मूल्यों के निर्माण में भौतिक शक्तियों के प्रभाव को ध्यान में रखना, विवेक-बुद्धि और तर्क के अनुशासन को मानते रहना-ये सब बातें उन्हें पूर्ववर्ती व्यक्तिवादी परम्परा से अलग कर देती हैं और उनकी विचारधारा को मार्क्स के द्वंद्वात्मक, गत्यात्मक भौतिकवाद के करीब दिखाती हैं। उनके मानवतावाद को व्यक्तिवादी परम्परा से जोड़ना सर्वथा अनुचित होगा। इसे तो एक ऐसी परम्परा का प्रारंभ अथवा पुनर्निर्माण मानना चाहिए जो मार्क्सवाद से प्रेरित और प्रभावित हैं। इस मानवतावाद को यदि हम अस्तित्ववाद से जोड़ना चाहें तो भी हम पाएंगे कि यह ऐसा अस्तित्ववाद होगा जिसका तालमेल मार्क्सवादी विचार-पद्धति से बैठ सकता है। जिस प्रकार का अस्तित्ववाद में सार्त्र के जीवन के अद्यतन चरणों में दृष्टिगोचर होता है, जबकि वे मार्क्सवादी विचारधारा के अंतर्गत आ जाते हैं। उसी का प्रतिरूप मुक्तिबोध के काव्य में देखना होगा। किन्तु मुक्तिबोध के मानवतावाद को अस्तित्ववाद से जोड़कर देखना पेचीदा और विवादास्पद प्रश्न है। इस मसले पर अलग से किसी अन्य लेख में विचार किया जा सकता है। •

कविता

हिटलर की उम्र

❑ओम बनमाली

कुछ लोगों की सोच में
हिटलर जैसा दरिन्दा
है आज भी ज़िन्दा

जो अपने झूठ को
बार बार सच बता कर,
लोगो को बहका कर,
बहुमत पाकर,
या हथियारों के बल पर
सत्ता हथिया कर,
पुलिस, फौज, नौकरशाही और धर्म का
करके इस्तेमाल,
लोकहित को बना कर ढाल,
जनता द्वारा उसी को अपनाने को
अमर हो जाने की हवस के चलते
इतिहास में महानायक का दर्जा पाने को
कहीं धर्मयुद्ध, कहीं ज़िहाद के नाम पर
और कही राष्ट्र प्रेम की देकर दुहाई
इंसानों के बीच खोद कर नफरत की खाई,
एक समूह को
दूसरे से लड़ने को उकसाता है,
बेहिचक मानवता का खून बहाता है।

इतिहास है गवाह
जब जनता जागरूक हो जाती है,
एकजुट होकर छद्म महानायकों को
सबक सिखाती है,
उन्हें औकात बता कर
सही ठिकाने पर लगाती है,
हर ज़माने में ऐसे हिटलरों को
उतने समय तक सहती है,
जितने समय
इनके कुचक्रों से अनजान रहती है,
जब जनता को हो जाती है
उनके इरादों की पहचान,
तो जनविरोध का चलता है तूफान,
तब हर ज़माने के हिटलर
को मरना ही होता है,
और मरने के बाद उनकी मज़ार पर
कोई फूल नहीं चढ़ाता है
कोई दो आंसू नहीं बहाता है,
उसका नाम हमेशा इतिहास के
काले पन्ने पर ही लिखा जाता है। •

मुक्तिबोध के सौ साल

□गोपाल प्रधान

मुक्तिबोध उन विद्रोही साहित्यकारों की महान परम्परा में आते हैं जिन्हें जीवन में सम्मान नहीं मिलता लेकिन देहान्त के बाद क्रमश: महत्वपूर्ण होते जाते हैं । संस्कृत भाषा के ऐसे ही कवि भवभूति को अपना समानधर्मा पैदा होने की आशा सुदूर भविष्य में थी क्योंकि 'कालोह्यं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी' (काल अनन्त है और धरती बहुत बड़ी है)। ऐसे लेखकों को जीवन में सफलता और सम्मान न मिलना ही उनके लिए गर्व की बात होती है। मुक्तिबोध ने जीवन भर अस्थिरता झेली। वे अपनी एक कविता 'मैं तुम लोगों से दूर हूँ' में लिखते हैं-

'मैं तुम लोगों से इतना दूर हूँ
तुम्हारी प्रेरणाओं से मेरी प्रेरणा इतनी भिन्न है
कि जो तुम्हारे लिए विष है, मेरे लिए अन्न है।'

इस कविता में वे अपने और दूसरों के बीच अंतर बताते हैं। यह अंतर दो वर्गों के बीच का अंतर है क्योंकि उनके और दूसरे साथियों में अंतर है। वे कहते हैं-

'मेरी असंग स्थिति में चलता-फिरता साथ है,
अकेले में साहचर्य का हाथ है,
उनका जो तुम्हारे द्वारा गर्हित हैं
किन्तु वे मेरी व्याकुल आत्मा में बिम्बित हैं, पुरस्कृत हैं
इसीलिए, तुम्हारा मुझ पर सतत् आघात है!'

मुक्तिबोध हिन्दी के उन कुछ लेखकों में से एक हैं जिनकी सभी रचनाओं में आपसी संवाद और संगति है। इनमें किसी एक को मुख्य कहना सम्भव नहीं। कवि के रूप में तो वे प्रसिद्ध हैं ही, कहानीकार के रूप में प्रतिष्ठा लायक कहानियों की रचना भी उन्होंने की है। आलोचक के रूप में भी उनका स्मरण किया जाता है और इतिहासकार के बतौर लिखी किताब तो प्रतिबन्धित ही हुई थी । डायरी और निबंध भी उनके लेखन के खास पहलू हैं। पत्रकार के बतौर भी उन्होंने ढेर सारा राजनीतिक लेखन किया। आम तौर पर हिन्दी साहित्य की दुनिया में साहित्यकार के राजनीतिक लेखन पर ध्यान नहीं दिया जाता लेकिन मुक्तिबोध के प्रसंग में यह लेखन उनके शेष लेखन को समझने की कुंजी साबित होता है। इसमें न केवल अपने समय की विश्व राजनीति पर उनकी पैनी टिप्पणियों के दर्शन होते हैं बल्कि नव स्वाधीन भारत की समस्याओं की भी निर्मम पहचान नजर आती है। वैसे तो कोई भी मार्क्सवादी होकर जन्म नहीं लेता बल्कि इस संसार की गति में पड़कर अपनी जीवन स्थिति के अनुसार आस पास चलने वाले घटनाक्रम से प्रतिक्रिया करते हुए अपने लिए किसी विचारधारा को चुनता है । मुक्तिबोध के मामले में यह वैचारिक संघर्ष अधिक गहरा और तीखा था। उन्होंने मार्क्सवादी विचार को अपने संस्कारों से जूझते हुए अपना बनाया था। इस आत्मसंघर्ष के निशान उनकी सारी रचनाओं में मौजूद हैं। इसी आत्मसंघर्ष के जरिए वे अपने समय के प्रमुख संघर्ष को भी व्यक्त करते हैं । उनके समस्त लेखन के केंद्र में मध्य वर्ग है। ऐसा केवल इसलिए नहीं है कि वे मध्य वर्ग को जानते थे बल्कि इसलिए कि आजादी के बाद मध्य वर्ग की प्रतिष्ठा में बढ़ोत्तरी हुई थी। इसको ही आजाद देश के लोकतांत्रिक प्रणाली का मूलाधार समझा जा रहा था। स्वाभाविक था कि इस मध्य वर्ग के जीवन की कमजोरियों का प्रभाव हमारे लोकतांत्रिक आचरण पर भी पड़ता। इस मध्य वर्ग को मुक्तिबोध एक अखंड इकाई नहीं मानते। इसके भीतर भी वे वर्ग विभाजन की पहचान करते हैं और निम्न मध्य वर्ग के साथ अपनी पक्षधरता घोषित करते हैं। इसकी कमजोरियों में सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि वह उच्च मध्य वर्ग में शामिल होना चाहता है जबकि जीवन के हालात उसे निम्न वर्ग के पास ले आते हैं। उच्च वर्ग में पहुंचने की इस चाहत को पूरा करने के लिए वह अपनी आत्मा को मार डालता है। मध्य वर्गीय व्यक्ति अपनी आत्मा की इस हत्या के क्रम में सभी कोमल भावनाओं को कुचल डालता है। इसके लिए एक उदाहरण के बतौर परिवार के प्रति उनके रुख को देखा जा सकता है। मुक्तिबोध कहते हैं कि हमारे जीवन की सबसे बड़ी दुर्घटना यह है कि राजनीति के एजेन्डे से समाज सुधार का सवाल गायब हो गया है। समाज सुधार के बारे में अगर हम सोचते भी हैं तो समझते हैं कि परिवार समाज से बाहर की कोई चीज है। परिवार के भीतर भी वे वर्ग विभाजन देखते हैं। इसमें बेरोजगार और चूल्हे चौके में लगी हुई स्त्री की स्थिति उन्हें सबसे विपन्न दिखाई देती है। स्त्री के बारे में बात करते हुए ही प्रेम के बारे में मुक्तिबोध की धारणा को स्पष्ट करना जरूरी है। मुक्तिबोध प्रगतिशील साहित्य के रचनाकार थे। सभी प्रगतिशील रचनाकारों के साहित्य में प्रेम का चित्रण ठीक पहले के छायावादी रचनाकारों के चित्रण से भिन्न है। इनके साहित्य में आमतौर पर कर्म सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। प्रेम के भीतर भी व्यक्ति अपनी सीमा से ऊपर उठता हुआ चित्रित किया गया है। यहां तक कि उनकी कविता 'पता नहीं' में प्रेम के कारण

'तुम दौड़ोगे प्रत्येक के
चरण-तले जनपथ बनकर ॥
वे आस्थाएँ तुमको दरिद्र करवायेंगी
कि दैन्य ही भोगोगे
पर, तुम अनन्य होगे,
प्रसन्न होगे ॥'

इन कुछेक छोटी कविताओं से मुक्तिबोध के विवेच्य विषय की बस एक झलक मिलती है। उनकी काव्य प्रसिद्धि का कारण तो असल में उनकी लम्बी कविताएं हैं । इनमें 'अंधेरे में' शीर्षक कविता आधुनिक हिंदी साहित्य की लगभग सबसे अधिक चर्चित रचना है। इस कविता के बारे में जितना लिखा गया है उतना शायद ही किसी एक रचना के बारे में लिखा गया होगा ।

हिंदी आलोचना की दुनिया में मुक्तिबोध 'कामायनी- एक पुनर्विचार' के कारण अमर रहेंगे। छायावादी कवियों में सुमित्रानंदन पंत सबसे अधिक राजनीतिक दिखाई देते हैं। निराला के साहित्य में भी निम्न वर्ग के प्रति सहानुभूति प्रत्यक्ष है। महादेवी वर्मा न केवल सुभद्रा कुमारी चौहान की दोस्त थीं बल्कि पर्याप्त सामाजिक चेतना संपन्न भी थीं। उनमें जयशंकर प्रसाद की छवि रहस्यवादी लेखक की थी। उनका यह महाकाव्य भी सतही तौर पर अपने युग की चेतना से जुड़ा हुआ नहीं लगता। मुक्तिबोध ने इसी महाकाव्य की ऐसी व्याख्या की है

कि जयशंकर प्रसाद अपने समय के सबसे गंभीर लेखक प्रतीत होने लगते हैं। 'कामायनी' की पौराणिक कहानी को उन्होंने फैंटेसी की तरह ग्रहण करके बताया कि इसकी पौराणिकता के भीतर से वर्तमान पूंजीवादी सभ्यता के बुनियादी सवाल झांकते हैं। कामायनी की एक पंक्ति 'ज्ञान दूर, कुछ क्रिया भिन्न है/ इच्छा क्यों पूरी हो मन की।/ एक दूसरे से न मिल सके/ यह विडम्बना है जीवन की॥' को उन्होंने आधुनिक सभ्यता का सबसे बड़ा सवाल बताया। आज का मनुष्य इस मामले में विभाजित है कि उसका ज्ञान कुछ कहता है और करता वह कुछ और है। साथ ही वे यह भी बताते हैं कि जयशंकर प्रसाद ने जितनी बड़ी समस्या उठाई उसके मुकाबले समाधान बेहद कमजोर प्रस्तुत किया। महाकाव्य के अंत में ज्ञान, क्रिया और इच्छा के जो चक्र अलग अलग चल रहे थे उन्हें श्रद्धा की मुस्कान सामंजस्य में ले आती है। इसी समाधान पर मुक्तिबोध ने सवाल उठाया है। प्रसाद जी की कामायनी के पूरे पौराणिक माहौल को समकालीन बनाकर उन्होंने इसके प्रमुख पात्र मनु की अस्थिरता को मध्यवर्गीय चरित्र की विशेषता के रूप में पहचाना। इस व्याख्या के अतिरिक्त हिंदी भक्ति साहित्य के मूल्यांकन के प्रसंग में उनका लेख 'मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन का एक पहलू' भी अक्सर उद्धृत किया जाता है। इसमें उन्होंने भक्ति साहित्य को एक प्रक्रिया की तरह देखने की कोशिश की है। उनका कहना है कि भक्ति साहित्य अपने समय के सामाजिक बंधनों से विद्रोह के रूप में प्रकट हुआ था। इस विद्रोह की क्रांतिकारी अभिव्यक्ति निर्गुण संतों के साहित्य में होती है। ये संत अधिकतर निचली जातियों के थे। बाद में उस आंदोलन में समाज के ऊपरी तबके भी शामिल हुए। ये तबके अपने संस्कारों के साथ इस आंदोलन में शामिल हुए। इस प्रक्रिया में सूरदास की कविता में उसकी क्रांतिकारिता कमजोर पड़ने लगी। तुलसीदास के आते आते इस साहित्य की सारी क्रांतिकारिता समाप्त हो गई। इसी तरह नई कविता नामक साहित्यांदोलन के बारे में भी पूरी तरह से खारिज करने या इसकी अति प्रशस्ति के बदले उन्होंने इसका स्वागत तो किया लेकिन कमजोरियों के विरुद्ध लड़ना भी जारी रखा। इसे वे नई कविता का 'आत्मसंघर्ष' कहते हैं। मुक्तिबोध ने काफ़्का की तरह ही रूपकात्मक कहानियां भी लिखीं। उनकी कहानी 'पक्षी और दीमक' सुविधाओं के लिए स्वतंत्रता कुर्बान कर देने की करुण कहानी है। इसी तरह 'समझौता' शीर्षक कहानी नौकरशाही में बॉस और मातहत के बीच बाघ और रीछ की खाल ओढ़े झूठे और भय पर आधारित संबंधों की विडंबना को उजागर करती है। हिरोशिमा पर परमाणु बम गिराने वाले क्लाड ईथरली के अपराध बोध को 'क्लाड ईथरली' में दर्ज किया गया है जिसने असल जिंदगी में उस घटना की पचासवीं सालगिरह पर आत्महत्या कर ली थी और जीवित रहते हरेक साल उस घटना की बरसी पर हिरोशिमा जाया करता था।

मुक्तिबोध को समय बहुत कम मिला। जीवन की अस्थिरता और जीवन संघर्ष ने उम्र के ज्यादातर वर्ष छीन लिए। जीवित रहते उनका लिखा बहुत कम छपा था। भारत के इतिहास पर लिखी उनकी किताब पर प्रतिबंध लग गया था। आज के माहौल में उस किताब को फिर से देखा जा सकता है कि आखिर भारत के इतिहास में उन्होंने क्या ऐसा देख लिया था जो उस समय की ताकतों के लिए असुविधाजनक हो गया था। पहला कविता संग्रह 'चांद का मुंह टेढ़ा है' भी उनके देहांत के समय प्रकाशित हुआ। इसके बावजूद पूंजीवाद की उनकी आलोचना, मध्य वर्ग की अवसरवादिता की उनकी परख, आधुनिक सभ्यता की बुनियादी समस्याओं का उनका विश्लेषण इतना प्रभावी था कि जैसे जैसे समय बीतने के साथ लोकतांत्रिक माहौल का क्षरण होता गया और सत्ता की निरंकुश प्रवृत्तियों से जनता का संघर्ष तीखा होता गया वैसे ही वैसे मुक्तिबोध की प्रासंगिकता बढ़ती गई। उनकी कविताओं के टुकड़े क्रांतिकारी विद्यार्थी संगठनों के पोस्टरों पर दिखाई पड़ने लगे। उनमें निम्नांकित अंश तो बेहद प्रेरणादायी था–

'अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे
उठाने ही होंगे ।
तोड़ने होंगे ही मठ और गढ़ सब ।
पहुँचना होगा दुर्गम पहाड़ों के उस पार'

उनकी कविता 'अंधेरे में' में एक जुलूस का वर्णन है जिसमें पत्रकार, विद्वान आदि के साथ हत्यारा डोमा जी उस्ताद भी चल रहा है। लगता है जैसे वे आज के वातावरण की सम्भावना उसी समय देख रहे थे। असल में उस समय के मध्यवर्ग की जिस मानसिकता की पहचान उन्होंने की उसमें उन्हें लोकतंत्र विरोधी फ़ासीवादी तत्वों के उभार की आशंका महसूस हुई थी। आश्चर्य की बात नहीं है कि वही प्रवृत्तियां मुखर होकर आज हत्या और संहार का उल्लास नृत्य कर रही हैं। आजादी के तुरंत बाद की सत्ता के भीतर जिस तरफ जाने के लक्षण मुक्तिबोध को दिखाई पड़े थे उस दिशा में हमारा देश चल पड़ा है। साथ ही सत्ता की तारीफ के कसीदे पढ़ने वाले जिन बौद्धिक क्रीतदासों को उन्होंने जन्म लेते हुए देखा था वे अब पूरी बेशर्मी के साथ जातिवादी और पितृसत्तात्मक सामाजिक वर्चस्व का लाभ ही नहीं उठा रहे हैं बल्कि उसके वाहक भी बने हुए हैं । इनको पहचानने और इनके प्रतिरोध की रणनीति तैयार करने में मुक्तिबोध का साहित्य और भी प्रासंगिक तथा उपयोगी होता जाएगा ।

उनकी कविता 'पूंजीवादी समाज के प्रति' की निम्नलिखित पंक्तियों से इस व्यवस्था के प्रति उनके भीतर समाई नफरत का पता चलता है । वे कहते हैं–

'तेरे रक्त में भी सत्य का अवरोध
तेरे रक्त से भी घृणा आती तीव्र
तुझको देख मितली उमड़ आती शीघ्र
तेरे ह्रास में भी रोग–कृमि हैं उग्र
तेरा नाश तुझ पर क्रुद्ध, तुझ पर व्यग्र।
मेरी ज्वाल, जन की ज्वाल होकर एक
अपनी उष्णता में धो चलें अविवेक
तू है मरण, तू है रिक्त, तू है व्यर्थ
तेरा ध्वंस केवल एक तेरा अर्थ ।'

जिस कवि ने पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था के प्रति अपनी तीव्र घृणा को इस तरह खुल्लम खुल्ला जाहिर किया हो उसे यह व्यवस्था आखिर क्षमा कैसे कर सकती है। इसकी जिम्मेदारी तो स्वाभाविक रूप से इस व्यवस्था को खत्म करने के इरादे से लड़ने वाले योद्धा ही उठा सकते हैं। इतनी घनघोर अरुचि को साहित्य में अभिव्यक्त करने लायक भाषा उन्हें नहीं मिली इसीलिए उन्हें ढेर सारे नए पदबंध गढ़ने पड़े। भारतीय संस्कृति में प्रचलित सच्चिदानन्द को तोड़कर उन्होंने 'सत चित वेदना' जैसा नया पद तैयार किया। जो बात उन्हें कहनी थी उसके लिए नई धारणाओं के साथ नई भाषा के चलते बहुधा उन्हें कठिन और अबूझ मान लिया जाता है। उनके बारे में इस तरह की राय बनाने में आज के बुद्धिजीवियों का थोड़ा स्वार्थ भी छिपा रहता है।

सम्पर्क-9560375988

•

मुक्तिबोध
नैतिक साहस और वैचारिक जद्दोज़हद का कवि

❑आनंद प्रकाश

गजानन माधव मुक्तिबोध का नाम पिछले दशकों में शिद्दत से उभरा है। यह क्योंकर हुआ कि जिस कवि का अपने जीवन काल में एक संकलन भी प्रकाशित न हो पाया वह मृत्यु के दस-पंद्रह वर्षों बाद आजाद भारत के यथार्थ का साहित्यिक प्रतीक बना, और अचानक उससे प्रेरणा लेने वाले लेखकों की पूरी जमात, पूरी पीढ़ी बनकर तैयार हो गई? यह सवाल जितना जरूरी है, उतना ही व्याख्याकारी है।

लेखन कर्म आसान नहीं होता। उसमें कुछ ऐसी चीजें होती हैं जिनका सीधा ताल्लुक सादगी और ईमानदारी से होता है। ये चीजें कमोबेश सब व्यक्तियों में होती हैं, उसी तरह जैसे कल्पनाशीलता हर व्यक्ति में जन्मजात होती है। जिस चीज के लिए मेहनत करनी पड़ती है, उसका नाम नैतिक साहस है। यह निरंतर की जाने वाली जद्दोजहद से आता है। मुक्तिबोध के बारे में यह निश्चय ही कहा जा सकता है कि वह जीवन के अनेक पड़ावों के बीच से गुजरे, और हर पड़ाव ने उन्हें सोचने, समझने और सवाल उठाने के लिए प्रेरित किया। खास तौर से इन पड़ावों ने मुक्तिबोध के सामने विचारधारात्मक मुद्दों से जुड़ी जिज्ञासाएं रखीं।

मुक्तिबोध ने कविता के माध्यम से समकालीन वैचारिक व्यवधानों को समझने का मुश्किल रास्ता चुना। यह प्राय: देखने में आता है कि विचार के लिए गद्य का इस्तेमाल होता है। लेकिन मुक्तिबोध यह न मानकर कविता के वितान में अपनी व्यापक विचारधारात्मक समस्या रखते हैं और वहां अपने समाज के गणित से दो-चार होते हैं। मुक्तिबोध वैचारिक को राजनीतिक से और राजनीतिक को समाज से जोड़ने के हामी थे। वे चाहते थे कि आजाद भारत की सांस्कृतिक तस्वीर का जायजा लेते हुए उसकी विकृतियों एवं मूलभूत समस्याओं को रेखांकित करें और वहां मौजूद संभावनाओं से अपनी भूमिका के लिए निर्देश लें।

मुक्तिबोध की कविता में हमें बीसवीं सदी के चालीस का दशक सुनाई-दिखाई पड़ता है। इस दशक में यद्यपि समाज का संभावित नक्शा नज़र आने लगा था, जो मसलन तीस के दशक में प्रेमचंद को नज़र न आया था, लेकिन उसके समकक्ष दूसरे और त्रासद पक्ष भी उजागर होने लगे थे। संभावित से मेरी मुराद सकारात्मक और आदर्श समाज-नियमों से है, जिनकी चालीस के दशक में हेठी होने लगी थी और जिस कारण मुक्तिबोध जैसे समर्थ और जागरूक कवि चिंतित और उद्विग्न थे। फिर चिंता का रूप निजी अहसास से आगे विचारधारात्मक था। हुआ शायद यह था कि गांधीवाद को लेकर चालीस के दशक से शुरू होने वाली निराशा सन 1945-46 के आस-पास अपना असर दिखाने लगी थी। यह वो वक्त था जब भारत की उच्चवर्गीय सोच के सामने जनतांत्रिक मूल्यों की चुनौती मूर्त रूप में उभरने लगी थी और नजर आता था कि जल्द ही समानता पर आधारित समाज की नींव डाली जा सकती है। उस वक्त ऐसे विचार अवाम की समझ के दायरे में आने भी लगे थे। उच्च वर्गीय लोगों के लिए यह खतरे की घंटी थी। बीस के दशक में उच्च वर्गों का समर्थन करने वाले संगठन अस्तित्व में आ चुके थे और चालीस के दशक में उनकी गतिविधि चरम पर थी। चूंकि जल्द ही सत्ता का हस्तांतरण संभव था, इसलिए देश के सब राजनीतिक संगठन हरकत में आ गए थे। आजादी पूर्व के निर्णायक क्षण में यह कठिन घड़ी थी, कि तब आजाद भारत का नक्शा तैयार होना था।

इतिहास में मुक्तिबोध की पर्याप्त रुचि थी। यह मनुष्य द्वारा निर्मित इतिहास तो था ही, साथ ही वह अन्य इतिहास भी था जो व्यक्ति को प्राक और पुरातत्व की तरफ ले जाता है। मुक्तिबोध को प्रकृति के अनेक रूपों में भी इतिहास नजर आता था। इसका गहरा साक्ष्य उनकी कविताओं में मिलता है। पुराने इतिहास और प्रकृति को मुक्तिबोध उनकी बदलती शक्ल में देखते हैं। वह पाते हैं कि अनजान प्रदेश के उस वातावरण में तत्कालीन मनुष्य कितनी ही तरह की हिंसा में शामिल होते थे, उस समय भी बाद के घटनाक्रम की तरह लूट-खसोट चलती थी, और वे तर्कविहीन झड़पें देखते-देखते असंख्य मौतों में बदल जाती थीं। वह प्रारंभिक वर्ग समाज का दौर था। इतिहास से जुड़े तर्क ने ही मुक्तिबोध को सामाजिक गतिकी और गतिशीलता से वाकिफ कराया। इसकी सूक्ष्म प्रक्रिया का रूप उनके सामने कवि की हैसियत से सोचने और कविता लिखने के दौरान हुआ।

अपनी कविता में मुक्तिबोध लगातार समाज और चिंतन के मुश्किल सवालों से मुखातिब हुए। उनकी कोई काव्य रचना ऐसी नहीं मिलेगी जिसमें मात्र प्रकृति या कला के किसी अमूर्त विषय पर नज़र टिकी हो। वह समाज के ही संदर्भ में मनुष्य जीवन की समस्याओं का जायज़ा लेते थे। लेकिन उनकी राय थी कि जिसे हम जीवन कहते हैं वह असल में सामान्य जरूरतों और माहौल में सक्रिय मान्यताओं से परिचालित होता है। मसलन ज़रूरतें व्यक्ति को परंपरावादी बनने के लिए दबाव डालती हैं, इसके लिए उसे मज़बूर करती हैं ताकि विद्यमान समाज को उससे कोई विरोध या चुनौती न मिले, और दूसरी तरफ स्थापित मान्यताएं उसे प्रश्न पूछने और जिज्ञासु बनने से रोकती हैं। दोनों स्थितियों में जरूरत का तर्क मनुष्य के सोच पर हावी रहता और उसके व्यक्तित्व पर अपनी छाप छोड़ता है। प्रश्न है कि ऐसे में व्यक्ति क्या करें? गौर करें कि मुक्तिबोध की रचना मुख्य रूप से इस सवाल का पूरा-अधूरा जवाब बनती नज़र आती है।

मुक्तिबोध का गंभीर रचना कर्म चालीस के दशक में शुरू हुआ। अपने चरित्र में चालीस का दशक राजनीतिक खींचतान और साथ ही वैचारिक जिज्ञासा और गहन विश्लेषण का साक्षी था। फिर उसकी पीठ पर बहुत महत्वपूर्ण अर्थ में तीस का दशक आसीन था जिसने स्थितियों में बदलाव की

आकांक्षा और उससे जुड़ी चिंताओं को एकसाथ उभरते महसूस किया था। कल्पना करें कि किस प्रकार सोवियत रूस ने पूरे विश्व की जनता को सामाजिक न्याय और समानता का सपना दिखाया था। इससे भारत के आम लोगों में साहस का संचार हुआ था और फिर देश के साधनों पर काबिज़ होने जा रहे समाज के अन्य तबकों में परेशानी बढ़ने लगी थी। उस समय कम लोग जानते थे कि संसाधनों के नियंत्रक तबके और देश के सामान्य लोग परस्पर विरोध की भूमिका अपनाने की सोचेंगे। लेकिन आजादी पाने और विभाजन की त्रासदी से गुजरने के बाद ऐसे सवाल उठ खड़े हुए, जिनका अहसास तीस और चालीस के दशक में बहुत कम लोगों को रहा होगा।

एक जगह शमशेर बहादुर सिंह कहते हैं-- 'मुक्तिबोध युग के उस चेहरे की तलाश करते हैं जो आज के मलबे के नीचे दब गया है, मगर मर नहीं गया है। बहुत नीचे की तहों से भी वह कहते हैं -- कोशिश करो/ कोशिश करो/ कोशिश करो/ जीने की -- ज़मीन में गड़ कर भी....!?' (चांद काम मुंह टेढ़ा है, भूमिका, 22) इस टिप्पणी में शमशेर का आशय यहां दर्ज कई चीजों से व्यक्त होता है -- मसलन, युग से जो मनुष्य-निर्मित है और किन्हीं लोगों के हित से परिचालित है। इस कारण युग आम जनता को आहत करता और उसे कुचलता भी है। यह सच मुक्तिबोध के लिए पहचानने और समझने का विषय है। लेकिन मुक्तिबोध अपना मंतव्य सीधे न व्यक्त करके अपने कल्पित पाठक और साथ ही दबे सामान्य आदमी को यह माकूल सलाह देकर कहते हैं कि वह कोशिश करें जीने की, और चूंकि यह कोशिश होगी इसलिए इसमें जीने की पद्धति का, उसके मारक चरित्र से वाकिफ होने कारण तरीका भी ईज़ाद करना होगा। देखें कि समझना आसान नहीं है, वह एक-साथ मुश्किल और जोखिम-भरा है, इस नाते उसके लिए जमीन में गड़ कर भी कोशिश करनी पड़ सकती है। एक तरह यह सलाह मुक्तिबोध खुद को भी देते जान पड़ते हैं।

इससे पहले कि रचना से सम्बन्धित उपरोक्त सामान्य चर्चा को आगे बढ़ाएं, मुक्तिबोध की दो-एक कविताओं पर सीधे बात करना उपयोगी होगा। मुक्तिबोध ने अनेक छोटी कविताएं लिखी हैं। इनमें जीवन के सच पर संक्षिप्त लेकिन तीखी टिप्पणी मिलती है। एक चर्चित कविता का शीर्षक है 'शून्य'। इस शब्द पर गौर करें तो पाते हैं कि मानी के नजरिए से यह गणित और दर्शन के बीच संदर्भों, क्रियाओं, और मानवीय इरादों की छवि से घिरा है। उदाहरण के लिए, यह शब्द ऊपरी पक्षों के विपरीत उनके अनुभव के सच को इंगित करता है। शीर्षक मात्र से पाठक को अनुमान हो जाता है कि कवि सीधे सीधे अपने माहौल के बारे में वक्तव्य देना चाहता है, और वह कवि अगर मुक्तिबोध है तो निश्चय ही सुचिंतित तर्क की मदद से अर्जित एक भरी-पूरी चीज़ रचना में व्यक्त होती नज़र आएगी।

'शून्य' का केंद्रीय उद्देश्य साफ तौर पर समसामयिक ढांचे के खोखलेपन को उजागर करना है। यह एक अंधेरी कविता है, भयंकर और विनाशकारी। मुक्तिबोध ने इस तरह की दो-टूक शैली में प्राय: नहीं लिखा है। पढ़ें कि इस डेढ़ पृष्ठ की कविता में 'शून्य' को इंगित करने वाले और उसके समानार्थी शब्दों की झड़ी लगी है, और एक शब्द आगे आने वाले दूसरे शब्द से अधिक मारक है। उदाहरण के लिए जबड़ा, मांस काट खाने के दांत, खून का तालाब, एकदम काला, बर्बर, नग्न, विहीन, न्यून, अपने में मग्न, आदि शब्द जो अपनी तल्ख़ी से पाठक का ध्यान खींचते हैं। 'विहीन' और 'न्यून' की ध्वनि अचानक विचार में बदल जाती है जहां उसका असर अमूर्तन के कारण अतिरिक्त सन्नाटा पैदा करता है। पूछा जा सकता है कि इस दुहराव और अतिशय विस्तार का प्रयोजन क्या है? जिस जवाब को यह कविता तैयारशुदा शक्ल में पेश करती है वह वर्तमान जिंदगी का बाकी चीजों को बर्बाद करने वाला चरित्र तो है ही, उसकी खुद को नष्ट करने की प्रवृत्ति भी है। कविता के शुरू में ही शून्य को भीतर स्थित बतलाया गया है, वह व्यक्ति का आंतरिक स्वभाव है --'भीतर का आदतन क्रोधी अभाव वह/ हमारा स्वभाव है'। इससे आगे कहा गया है कि शून्य के खतरनाक सूत्र मनुष्य शरीर की संरचना का हिस्सा बने हैं -- 'उस को मैं उत्तेजित/ शब्दों और कार्यों से बिखेरता रहता हूं/ बांटता फिरता हूं।' अंत में शून्य को मौत कहा गया है जो 'अब नये नये बच्चे जन रही है।'

'शून्य' बौद्धिक काव्य रचना है, यह अपने भीतर से एक विचार के इर्द-गिर्द घूमती है जो अभी अंतिम रूप नहीं ले पाया है, केवल बनने की प्रक्रिया में है। यह बनना शून्य को उसकी भीतरी परतों में दिखाता और समझाता है, साथ ही पाठक और स्वयं लेखक की विचारगत मदद के लिए जरूरी तर्क भी जुटाता है। इस कविता को दो-तीन बार पढ़ा जाए तो दिमाग में सामाजिक परिवेश की धुंधली और फिर साफ तस्वीर क्रमश: उभरती है। कविता के केंद्र में यह गतिकी-सिद्धांत सक्रिय दिखता है। पाठक महसूस करता है कि वह ऐसे रचनाधर्मी अभियान में शामिल हो रहा है जिसे देर-सवेर अभिव्यक्ति का नया तरीका ईजाद करना है। इसके लिए कविता के भीतर छोटे-छोटे वाक्य तैरते हुए देखे जा सकते हैं। मसलन, 'ऐसा वह शून्य है', 'अपने में मग्न है', 'बहुत टिकाऊ है', 'जहां देखो वहां खूब मच रही है, खूब ठन रही है', आदि, आदि। दिलचस्प है कि इन वाक्यों, वाक्यांशों में बनाया हुआ विचार नहीं, बन रहा विचार तारी है, उसी का सार्थक सिलसिला पाठक के सामने रू-ब-रू होने की खातिर शब्दों की शक्ल में मौजूद है।

यह बन रहा विचार क्या है और प्रक्रिया पूरी होने पर वह क्या रूप अख्तियार करेगा, यह कविता के भीतर तय नहीं है, कारण कि उसके लिए व्यक्ति-पाठक और उसके माध्यम से सामान्य लोगों के पूरे समाज को हरकत में आना होगा। अंतिम पंक्तियां हैं -- 'जगह-जगह दांतदार भूल,/ हथियार-बंद खोलती है,/ जिन्हें देख, दुनिया हाथ मलती हुई चलती है।' अजीब तरह का यह वक्तव्य फिर से उस तर्क के लिए दरवाजा खोलता है जिसको सक्रिय अवाम के हाथों मनुष्य-सुलभ जिंदगी का आधार मिलेगा।

'शून्य' से अलग, बल्कि उसके लगभग विपरीत 'मैं तुम लोगों से दूर हूं' शीर्षक कविता है। जहां 'शून्य' में किसी चिंतन-सूत्र की प्रधानता थी, वहां इस कविता में मनुष्य मनुष्य के बीच रिश्ते का मसला है। अपने आप यहां समाज प्रवेश कर गया है और यह संकेत है कि वर्तमान जीवन में संभवत: भौगोलिक की निस्बत भावनात्मक दूरी की समस्या है -- यदि व्यक्तियों के बीच निकटता हो तो खुशी का माहौल पैदा हो जाएगा। खतरे का भाव तो यहां है ही, अकेलापन ऐसा नासूर बना है कि वह पूरी जिंदगी के पोषक तत्वों, अर्थात मूल्यों और आदर्शों के लिए घातक सिद्ध हो रहा है। यह भी सोचें कि मसला आर्थिक या सीधे

सीधे सामाजिक न्याय का न होकर मुख्यत: सांस्कृतिक है। इस तरह हम पाते हैं कि इस कविता में पाठक का ध्यान रचना और उसके साथ साथ लेखक के व्यवहार की तरफ भी खींचा जा रहा है।

'मैं तुम लोगों से दूर हूं' कविता में तीन विमर्श परस्पर टकराते हैं। वे हैं ऊंचे वर्ग का शोषणकारी सोच, शोषित निम्न वर्ग का सोच, और मध्य तबके का अनिश्चित यद्यपि कल्पनाशील और जिज्ञासापरक नजरिया। कविता में मुख्य रूप से उक्त तीसरे नज़रिये की मुश्किलों और चुनौतियों की समस्यामूलक तस्वीर उभर कर सामने आती है। साथ ही यह भी कि कविता का 'मैं' जिन लोगों को तुम कहता है वे अपने व्यवहार के दायरे में 'अवास्तव, अयथार्थ, मिथ्या (और) भ्रम' से निर्देश पाते हैं। इस कविता के खलनायक वे लोग हैं जो जिन्होंने पूरे होशो-हवास में काम करते हुए समाज की ऊर्जा और उत्पादन क्षमता को अपनी शोषणकारी योजना का लक्ष्य बनाया है। इस समझ ने कवि को दृष्टिकोण की स्पष्टता अर्जित करने में मदद की है। कवि इस ज़रूरत से भी वाकिफ है कि पूरी दुनिया को मौजूदा योजनाओं और नीतियों के विकृत तर्क से निजात पाना है, तभी समानता और सार्थक कामयाबी की मंज़िल तक पहुंचा जा सकेगा। कविता का यह केंद्रीय संदेश पाठक को उस उक्ति तक ले जाता है, जिसके मुताबिक उसकी राय में 'पूरी दुनिया साफ़ करने के लिए मेहतर चाहिए।'

यहां जीवन की क्रियाओं को जिन प्रवृत्तियों से जोड़ा गया है उनमें 'असफलता का धूल कचरा', 'छल-छद्म', और 'रक्तभरे महाकाव्यों के पन्ने' प्रमुख हैं। देखें कि ऊपर से किंचित अलग दिखने वाले विषयों के बावजूद दोनों कविताओं में अद्‌भुत समानता है, और इसलिए वास्तविक जुड़ाव के पीछे कवि का सामाजिक नज़रिया सक्रिय नज़र आता है। यह नज़रिया मुक्तिबोध की विभिन्न काव्य रचनाओं में संदर्भ और रूप के हिसाब से समाज के जटिल पक्षों पर टिप्पणी बनता है, और मानवीय सरोकारों की अहमियत को इस तरह उजागर करता है कि समाज के संदर्भ में निर्णायक बदलाव की पुख्ता जमीन तैयार हो सके।

सम्पर्क-98112-62848

मुक्तिबोध की कविताएं

लिख न सका हूं

लिख न सका हूं जोकि चाहता हूं मैं लिखना
बाहर की बातें ही घिर-घर
आ जाती हैं
सहज रोक देती हैं मन के
अंदर के स्वर
शब्द रोक देते भावों को
चित्र रोक देते स्वप्नों को
लेखन रोक चला अपने प्राणों के ही संवेदन को
सहज बाह्य में भटक भूल कर छूट चला जाता
धन मन का।

(अपूर्ण। सम्भावित रचनाकार 1940-42)

पूंजीवादी समाज के प्रति

इतने प्राण, इतने हाथ, इतनी बुद्धि
इतना ज्ञान, संस्कृति और अन्त शुद्धि
इतना दिव्य, इतना भव्य, इतनी शक्ति
इतना काव्य, इतने शब्द, इतने छन्द
जितना ढोंग, जितना भोग है निर्बन्ध
इतना गूढ़, इतना गाढ़, सुंदर जाल
केवल एक जलता सत्य दन, टाल।
छोड़ो हाय, केवल घृणा औ' दुर्गन्ध
तेरी रेशमी वह, शब्द-संस्कृति अन्ध
देती क्रोध मुझको, खूब जलता क्रोध
तेरे रक्त में भी सत्य का अवरोध
तेरे रक्त से भी घृणा आती तीव्र
तुझको देख मितली उमड़ आती शीघ्र
तेरे ह्रास में भी रोग कृमि है उग्र
तेरा नाश तुझ पर क्रुद्ध, तुझ पर व्यग्र
मेरी ज्वाल, जन की ज्वाल होकर एक
अपनी उष्णता से धो चलें अविवेक
तू है मरण, तू है रिक्त, तू है व्यर्थ
तेरा ध्वंस केवल एक तेरा अर्थ

(संभावित रचनाकाल 1940-42। तारसप्तक में प्रकाशित)

विचार आते हैं

विचार आते हैं-
लिखते समय नहीं,
बोझ ढोते वक्त पीठ पर
सिर पर उठाते समय भार
परिश्रम करते समय
चांद उगता है व
पानी में झलमलाने लगता है
हृदय के पानी में

विचार आते हैं
लिखते समय नहीं
...पत्थर ढोते वक्त
पीठ पर उठाते वक्त बोझ
सांप मारते समय पिछवाड़े
बच्चों की नेकर फचीटते वक्त!!!
पत्थर पहाड़ बन जाते हैं
नक्शे बनते हैं भौगोलिक
पीठ कच्छप बन जाते हैं
समय पृथ्वी बन जाता है।

मैं उनका ही होता

मैं उनका ही होता, जिनमें
मैंने रूप-भाव पाये हैं।
वे मेरे ही हिये बंधे हैं
जो मर्यादाएं लाये हैं।
मेरे शब्द, भाव उनके हैं,
मेरे पैर और पथ मेरा
मेरा अंत और अथ मेरा
ऐसे किंतु चाव उनके हैं।
मैं ऊंचा होता चलता हूं
उनके ओछेपन से गिर-गिर कर
उनके छिछलेपन से खुद-खुद
मैं गहरा होता चलता हूं।

(संभावित रचनाकाल 1940-42। तारसप्तक में प्रकाशित)

हरियाणा पंजाबी भाषा कन्वेंशन का आयोजन

▢बूटा सिंह सिरसा

23 अप्रैल को पंचायत भवन सिरसा में हरियाणा केंद्रीय पंजाबी लेखक सभा (रजि.) की तरफ से हरियाणा पंजाबी भाषा कन्वेंशन का आयोजन किया गया। सिरसा जिले की विभिन्न साहित्य सभाओं व पंजाबी भाषा से जुडी संस्थाओं ने इस कन्वेंशन के आयोजन में सहयोग किया। पूरे प्रदेश से पंजाबी अध्यापन से जुड़े बुद्धिजीवी, साहित्यकार व पंजाबी भाषा प्रेमी इस कन्वेंशन में पहुंचे। पंचायत भवन का सभागार पूरी तरह से भर गया था। इस कंवेंशन की अध्यक्षता सुखदेव सिंह सिरसा, डा. पाल कौर, डा. हरमीत कौर, डा. रमेश कुमार, डा. अमरजीत सिंह, का.जसवंत सिंह जोश, डा. बूटा सिंह विर्क तथा डा. सुभाष मानसा ने संयुक्त रुप से की। कन्वेंशन के शुरू में कुलदीप सिंह, महक व खुशबू भारती तथा पुरुषोत्तम शास्त्री ने क्रान्तिकारी गीत पेश किये। सरकारी कालेज डबवाली के प्रोफ़ेसर दिलराज सिंह की तरफ से आए हुए सभी मेहमानों का स्वागत किया गया। श्री परमानन्द शास्त्री द्वारा सभी का कन्वेंशन पहुंचने व गम्भीरता से सुनने के लिए धन्यवाद किया। उन्होंने कहा कि यह किसी एक मातृभाषा की लड़ाई नहीं जहां भी लोग अपनी मातृभाषा के लिए लड़ रहें हैं हम उनका समर्थन करते हैं। अंत में श्री मनजीत सिंह ने पाश द्वारा लिखा गया एक पंजाबी 'गीत सोने दी सवेर' गाकर कन्वेंशन की समाप्ति की। मंच संचालन की जिम्मेदारी डॉक्टर हरविंदर सिंह सिरसा ने निभाइ।

केंद्रीय पंजाबी लेखक सभा (रजि.) के प्रधान डॉक्टर सर्वजीत सिंह ने सभा के इतिहास, लक्ष्यों उद्देश्यों व प्राप्तियों के बारे में बताते कहा कि सभा के साथ उतरी भारत की 148 साहित्य सभाएं सम्बंद्ध हैं। उन्होंने कहा कि भारत में भाषा की राजनीति को समझने की जरूरत है कितनी ही मातृभाषाओं व क्षेत्रीय बोलियों को हिंदी के साथ ही गडमड कर दिया गया।

मातृभाषा शिक्षा का माध्यम क्यों हो विषय पर बोलते हुए प्रसिद्ध भाषा विज्ञानी डा. जोगा सिंह ने कहा कि हम भारतवासी काफी लम्बे समय तक भाषाओं के गुलाम रहे हैं पहले मुगलों के दौर में फारसी के तथा उसके बाद अंग्रेजों के दौर में अंग्रेजी भाषा के। आश्चर्य की बात यह है कि आजादी के बाद भी मानसिक तौर पर हम आज भी मानसिक तौर पर अंग्रेजी भाषा के ही गुलाम हैं। इसका प्रत्यक्ष सबूत है कि मातृभाषा में प्राथमिक शिक्षा देने की बजाय पहली कक्षा से अंग्रेजी लागू की जा रही है। उन्होंने कहा कि पूरी दुनिया में 6000 से 7000 तक भाषाएं बोली जाती हैं और विश्व के अधिकतर देश (पराधीन रहे देशों को छोड़कर) अपनी मातृभाषा में ही शिक्षा देते हैं। ज्यादातर देशों में सूचना का माध्यम वहां की मातृभाषा है। विकसित देश अमेरिका में भी शिक्षा के माध्यम अलग-अलग हैं और यहां तक कि अमेरिका तथा ब्रिटेन की कोई सरकारी भाषा नहीं है। दुनिया के सबसे विकसित 50 देशों में इंग्लैंड नहीं है जो कि अंग्रेजी में पढ़ाते हैं। अंग्रेजी की पढ़ाई होने के बावजूद भी दुनिया के व्यापार में भारत का नंबर 150 वां है दूसरी तरफ दक्षिणी कोरिया में शिक्षा का माध्यम वहां की कोरियन भाषा है लेकिन फिर भी वह व्यापार में हमारे से कहीं आगे है।

भारत में जितनी भी शिक्षा संबंधी समितियां और आयोग बने हैं। सभी ने मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाये जाने की सिफारिश की है। उन्होंने कहा कि यदि पूरे देश पर एक भाषा थोपने का प्रयास किया गया तो देश टूट जाएगा। यह धारणा बिल्कुल गलत है कि हमरी भाषाएं अंग्रेजी से कम विकसित हैं बल्कि हमारी भाषाएं अंग्रेजी से पहले ही विकसित हो चुकी थी। हमारे देश में यह भी अंधविश्वास है कि विदेशी भाषा को जितना जल्दी सीखना शुरू किया जाए उतना ही ठीक है परन्तु भाषा विज्ञानियों की खोजें यह प्रमाणित कर चुकी हैं कि अपनी मातृभाषा में पारंगत होकर बच्चा विदेशी भाषा जल्दी सीखता है। उन्होंने कहा कि हम भाषा के मामले अँधेरे दौर की तरफ जा रहें हैं न तो हम अपने पूर्वजों (विभिन्न शिक्षा आयोगों) की कही बात को मान रहे हैं और न ही संविधान के त्रिभाषा फार्मूले को। यह एक प्रकार की मानसिक गुलामी है

पंजाबी सभ्याचार व भाषा के बारे में बोलते हुए डा. अमरजीत सिंह ने कहा कि प्रदेश की साहित्य सभाओं व सभ्याचारक समितिओं को गांवों की तरफ जाना चाहिए। बहुत बड़े-बड़े प्रोग्राम करने की बजाय गांव में जाकर छोटे-छोटे प्रोग्राम किए जाएं। लोगों को साहित्य से जोड़ा जाए व उनमें पढ़ने की रूचि पैदा की जाए। पूंजीवाद द्वारा एक योजना के अंतर्गत पूरी तरह भुला दिए गये नायकों के दिन मनाते हुए लोगों को सामाजिक बदलाव की लंबी लड़ाई के लिए तैयार किया जाए। इसके लिए लोगों से बात उनकी भाषा में सरल शब्दों में की जाएै। पंजाबी की अन्य उपभाषाओं मुलतानी तथा झांगी की तरफ ध्यान दिया जाए तथा पंजाबी के साहित्य को इन उप भाषाओं में भी अनुवाद किया जाए।

उच्च शिक्षा में पंजाबी की स्थिति के बारे में अपनी बात रखते हुए डाक्टर रतन सिंह ढिल्लों ने कहा कि पंजाबी भाषा को अनिवार्य भाषा के तौर पर लागू करवाने के लिए संघर्ष करने की जरूरत है। स्कूल से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक के पाठ्यक्रम को समय के अनुसार बदलने

की जरूरत है। उच्च शिक्षा ग्रहण करते समय विद्यार्थी पाठ्य पुस्तकों की बजाय सिर्फ नोट्स ही पढ़ते हैं।

विद्यालय स्तर पर पंजाबी की स्थिति के बारे में श्री पूर्ण सिंह वडैच ने कहा कि स्कूलों में अभी भी पंजाबी पढ़ाने वाले अध्यापक पूरे नहीं हैं। बहुत सारे पद खाली हैं। वर्तमान समय में स्कूलों में पंजाबी विषय केअध्यापक व प्राध्यापकों की लगभग 2000 पोस्ट हैं। उन्होंने यह भी कहा कि हमारे सामने कई प्रकार के संकट हैं। हम जिन बच्चों को पंजाबी पढ़ा रहे हैं उनमें ज्यादातर की मातृभाषा पंजाबी नहीं है। दूसरा सबसे बड़ा हमारे सामने जो संकट है वो लागू किये गये व्यावसायिक विषय हैं। इन विषयों को नौवीं से बारहवीं कक्षा तक भाषाओं का विकल्प बना दिया गया है तथा यह विषय बच्चों के ऊपर अनिवार्य रूप से थोपे जा रहे हैं।

कन्वेंशन में विभिन्न मांगों के समर्थन में पांच प्रस्ताव पास किए गए। डा. नरविंद्र सिंह कौशल की तरफ से पेश किये प्रस्ताव में मांग की गयी कि हरियाणा पंजाबी साहित्य अकादमी का निदेशक हरियाणा से ही लगाया जाये। भूपेन्द्र पन्नीवालिया की तरफ से पंजाबी को दूसरी भाषा के तौर पर व्यवहारिक तौर पर लागू करने, मास्टर बूटा सिंह ने विभिन्न विश्वविद्यालयों में अपनी मांगों को लेकर संघर्षरत छात्रों के समर्थन में तथा डा. दर्शन सिंह ने प्रदेश के सभी कालेजों पंजाबी भाषा को पढ़ाने का प्रबंध करने तथा सभी विश्वविद्यालयों में पंजाबी विभाग स्थापित करने की मांग की गयी।

प्रो. सुखदेव सिंह सिरसा ने अध्यक्षीय टिप्पणी देते हुए कहा कि हमें भारत की विविधता व भाषाई विभिन्नता की विशेषता को बचाना है व मातृभाषा के मामले को भावुक होकर लेना होगा। उन्होंने अपनी बात करते हुए फैज, अमीर खुसरो व मैक्समूलर आदि के उदाहरण दिए तथा कहा कि भाषा का मामला सिर्फ अकादमिक मामला नहीं है बल्कि यह एक राजनीतिक मामला है और इसको हल करने के लिए राजनीतिक चेतना की जरूरत है। डा. हरमीत कौर ने बोलते हुए कहा कि पंजाबियों ने विश्व स्तर पर बहुत उपलब्धियां हासिल की हैं लेकिन हरियाणा में पंजाबी की बहुत बुरी हालत है। एक तरफ हम विश्वविद्यालयों में पंजाबी विभाग खोलने की मांग कर रहे हैं दूसरी तरफ स्कूलों से पंजाबी को खत्म किया जा रहा है। इसलिए हमें स्कूलों में पंजाबी भाषा को बचाने की जरूरत है। डॉक्टर बूटा सिंह विर्क ने अपनी बात रखते हुए कहा कि जिस प्रकार हम सरकारों से मांग करते हैं हमें अपने घरों में भी अपने बच्चों को पंजाबी साहित्य उपलब्ध करवाया जाना चाहिए। डा. सुभाष मानसा ने कहा कि भाषा का मामला सिर्फ पंजाबी से जुड़ा हुआ नहीं है बल्कि सभी भाषाओं से जुड़ा हुआ है। भाषा सिर्फ संचार का साधन नहीं बल्कि संस्कृति का वाहक है। पूंजीवादी व्यवस्था ने भाषा को मानवीय संचार से मात्र संचार तक सीमित कर दिया है। जब किसी भाषा को मात्र संचार तक सीमित कर दिया जाये तो उसमें भाव नहीं होते। पूंजीवाद मनुष्य को मनुष्य नहीं बल्कि एक वस्तु बनाना चाहता है। इसलिए भाषा के मसले को व्यापक स्तर पर व्यवस्था के साथ जोड़ते हुए देखना होगा तथा भाषा को बचाने की लड़ाई को व्यवस्था परिवर्तन की लड़ाई के साथ जोडकर लड़ा जा सकता है। पूरी दुनिया में जिस प्रकार से दक्षिणपंथी रुझान का दौर है तथा इस दौर में उनके लिए भाषा एक हथियार है वैचारिक लड़ाई का। इसलिए राजनीति को समझने की जरूरत है। भाषा को बचाने की लड़ाई आम जनता की लड़ाई है। अंबाला से पहुंची डॉक्टर पाल कौर ने कहा कि हरियाणा में काम कर रही सभी भाषाओं की साहित्य अकादमियां स्वतंत्र नहीं हैं। निदेशक के पद राजनीतिक हैं तथा सरकारें अपनी विचारधारा के प्रचार व प्रसार के लिए अपने आदमी लगाती हैं। सरकार के आदमियों से भाषा के विकास की उम्मीद करना बेमानी है इसलिए हमें अपने स्तर पर प्रयास करने होंगे। भाषा की वर्कशॉप, सेमिनार गोष्ठियां अध्यापकों को ट्रेनिंग देनी होगी। इस दौर में यह कार्य और भी जरूरी है जब सरकारें इतिहास एवं भाषाओं को अपने खास एजेंडे के लिए प्रयोग कर रही हैं तथा इन पर बहुत बड़ा हमला किया जा रहा है। डा. रमेश कुमार यमुनानगर ने हरियाणा में पंजाबी भाषा के लिए किए गए संघर्षों को विस्तार से बताया उन्होंने अपनी एक कविता भी सुनाई उन्होंने कहा कि प्रदेश में पंजाबी के स्कूल से विश्वविद्यालय स्तर तक जो भी पोस्टें हैं इसके लिए हमारे पहली पीढ़ी के विद्वानों ने संघर्ष किया है तथा यह भी अच्छी बात है कि नई पीढ़ी संघर्ष कर रही है। हमें बच्चों के मानसिक स्तर का बाल साहित्य लिखना होगा बच्चों को उपलब्ध करवाना होगा। का. जसवंत सिंह जोश ने कहा कि भाषा का मसला सिर्फ साहित्य का या अध्यापकों का ही मसला नहीं, जनता का मसला है। इसलिए जनता के बीच ले जाना होगा।

•

कविता

कुलदीप सिंह

आरक्षण

हम
उजड़े भी बसे भी
फिर उजड़ गए
अब कैसा विभाजन है
जलाया आशियाना, रोजी रोटी भी,
आरक्षण-आरक्षण
हम भी वासी इसी जहां के
सहा पहले भी अब भी सहेंगे
उजाड़े का दंश
हर पीढ़ी इतिहास बनी
नया इतिहास लिए
ये नजारा, किया सबने किनारा
बस नजारे के लिए
तंत्र-मंत्र-यंत्र
रक्षक, शासन-प्रशासन
सब मौन है अंधेरा छा गया
रक्षक भक्षक हो गए
संवेदनहीन मानव, मानव-दानव
कौतूहल, हाहाकार, चित्कार
आरक्षण-आरक्षण
कौन राम कौन है रावण
कौन सभ्य और असभ्य
कब कैसे तुमको बतलाएंगे
अब गौतम बुद्ध न नानक तुमको
अंतर मानव दानव का समझाएंगे

सम्पर्क-9466242485

•

कहानी का रंगमंच

▫पंकज कुमार

आधुनिक काल में रंगमंच शब्द का प्रयोग व्यापक धरातल पर किया जाता है जिसमें रंगमंच के स्थूल तत्व, मंच, दृश्य-सज्जा, प्रकाश-व्यवस्थाओं, ध्वनि-संगीत योजना, नेपथ्य इत्यादि तो आते ही हैं 'साथ ही नाटक-कृति, नाटककार, निर्देशन अभिनय नाटक कृति का भाव-बोध भी इसी के अन्तर्गत आ जाते हैं।' इसप्रकार रंगमंच के द्वारा समस्त नाटकगत भावों की अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण होता है।

आधुनिक काल में रंगकर्मियों ने इस बात को तीव्रता से महसूस किया कि रंगमंच को केवल नाटक तक ही सीमित नहीं किया जा सकता बल्कि उसे साहित्य की अन्य विधाओं के सन्दर्भ में भी देखा जाना चाहिए। फलस्वरूप आधुनिक युग में नाटक के अतिरिक्त नाटकेतर विधाओं को लेकर नये-नये प्रयोग किये गए। जिनसे रंगमंच और साहित्य के नये रिश्ते का आरम्भ हुआ। कहानी का रंगमंच इसी प्रक्रिया की कड़ी है।

आधुनिक हिन्दी रंगमंच प्रयोगशीलता का रंगमंच है जिसमें नित्य प्रति नये-नये प्रयोगों के द्वारा नई दिशाएं उद्घाटित होती रहती हैं। इन प्रयोगों के द्वारा नाटक और रंगमंच तो समृद्ध हुआ ही है साथ ही साहित्य की अन्य विधाओं को भी इस क्षेत्र में प्रतिष्ठा मिली है। इसी का परिणाम है - नाटकेतर विधाओं का मंचन। मंचन के अतिरिक्त उपन्यास, कहानी, कविता, व्यंग्य-रचनाएं, डायरी तथा पत्र इत्यादि साहित्यिक विधाओं को भी रंगमंच पर उतारने के लिए सफल प्रयास हुए हैं इसी श्रृंखला की कड़ी में 1975 में सर्वप्रथम देवेन्द्रराज अंकुर ने निर्मल वर्मा की तीन कहानियों की 'तीन एकांत' नाम से प्रस्तुति कर 'कहानी का रंगमंच' की शुरूआत की। अब तक लगभग तीन सौ कहानियां इस प्रयोग से गुजर चुकी हैं तथा इस प्रयोग की सार्थकता को घोषित कर रही हैं। तत्कालीन रंगमंचीय स्थिति को देखते हुए धर्मवीर भारती लिखते हैं, ''बहुत सी नाट्य परम्पराओं की लोकप्रियता की रवायतों से हमें ख्वाहमख्वाह आक्रांत होने की कोई जरूरत नहीं दिखती जैसे रंगमंच और उनसे सम्बद्ध नाट्य-लेखन हिन्दी में नहीं है, यह हमारा दुभार्ग्य नहीं सौभाग्य है। हम एक स्वस्थ शुरूआत तो कर सकते हैं।[1]

कहानी के रंगमंच के साथ ही उपन्यासों के नाट्यान्तरण का मंचन भी विगत तीन-चार दशकों में हुआ है जिसमें प्रतिभा अग्रवाल की भूमिका सराहनीय रही है। उनके द्वारा प्रस्तुत होरी (प्रेमचंद, गोदान), नगर वधू अमृतलाल नागर, (सुहाग के नूपुर व वंशवृक्ष) (एस.एल. कैरप्पा, कन्नड़ उपन्यास) काफी प्रसिद्ध रहे। साथ ही गिरीश रस्तोगी ने रंगनाथ की वापसी (श्रीलाल शुक्ल, राग दरबारी) तथा बाणभट्ट की आत्मकथा (हजारी प्रसाद द्विवेदी) का नाट्यान्तरण प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त महाश्वेता देवी का 'हजार चौरासी की माँ', कृष्णा सोबती का 'डार से बिछुड़ी', 'मित्रो मरजानी' मन्नू भण्डारी के 'महाभोज' जैसे- उपन्यासों की नाट्यान्तरित प्रस्तुतियाँ भी उल्लेखनीय रही। मंच पर स्वरूप ग्रहण करके ये कृतियाँ अधिकाधिक लोगों तक पहुँची ऐसा निश्चित रूप से कहा जा सकता है।

कहानी तथा उपन्यासों के मंचन के साथ ही कुछ लम्बी कविताओं की मंचीय प्रस्तुति ने भी हिन्दी रंग आन्दोलन के विकास में अपने स्तर पर योगदान दिया। प्रलय की छाया (जयशंकर प्रसाद), अंधेरे में (मुक्तिबोध), आत्महत्या के विरुद्ध (रघुवीर सहाय), बलदेव खटीक (लीलाधर जगूड़ी), कुआनो नदी (सर्वेश्वर दयाल सक्सेना), कनुप्रिया (धर्मवीर भारती) इत्यादि कविताओं के मंचन द्वारा हिन्दी रंगमंच ने नई गति प्राप्त की। नटरंग में 1984 की नाट्य गतिविधियों पर परिचय 1996 के दीक्षान्त समारोह के अन्तर्गत एकल प्रस्तुतियों का कार्यक्रम रखा गया। इसमें ''राजधानी के जाने माने रंगकर्मी पीयूष मिश्रा ने विजयदान देथा की बहुचर्चित कहानी 'दुविधा' को अकेले सिर्फ एक हारमोनियम की मदद से जिस गतिशीलता के साथ प्रस्तुत किया उससे मणि कौल की फिल्म 'दुविधा' का दूसरा सीमान्त ही नहीं 'एकल' का एक नया आयाम भी उद्घाटित हुआ।''[2]

नटरंग में 1984 की नाट्य गतिविधियों का परिचय देते हुए महेश आनंद लिखते हैं- ''अमाल अल्लाना द्वारा निर्देशित महाभोज को लम्बे चौड़े दृश्यबंध पर खेला गया और देवेन्द्र राज द्वारा परिकल्पित कहानियाँ बिना किसी ताम-झाम के नंगे मंच पर। नाटकीय अनुभव की दृष्टि से देवेन्द्र की कहानियाँ किसी भी यथार्थवादी प्रस्तुतीकरण की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण लगती थी।'' [3]

रंगमंच की प्रयोगशाला हिन्दी रंगमंच को विस्तार देने वाले रंग प्रयोगों और नाट्य-चिन्तन की सम्भावनाओं की खोज कहानी में समाविष्ट करते हुए सार्थक संवाद करने की है। न कि किसी निश्चित ढ़ाँचे या शास्त्र को गढ़ने की।

हिन्दी रंगमंच पर संगीत नृत्य, चित्रकला, कथा साहित्य, आत्मकथा, रिपोर्ताज आदि को लेकर प्रयोग ही नहीं हो रहे हैं, बल्कि उनके आपसी संबंधों को भी नए ढंग से देखा-परखा जा रहा है।

उपन्यास-कहानी को मंचित करना मूलत: अतीत को वर्तमान में और श्रव्य को दृश्य में परिवर्तित करने की रचनात्मक प्रक्रिया है। कथा साहित्य अपने व्यापक घटना-फलक और स्थान, कार्य एवं समय के वैविध्यपूर्ण फैलाव के साथ-साथ संकेतों, सन्दर्भों, प्रतीकों और विवरणों के बिखराव के कारण (सिनेमा, टी.वी. अथवा रेडियो) के अधिक निकट पड़ता है उसे उपेक्षित नहीं किया जा सकता है। संकलन त्रय और यथार्थवादी दृश्य-बंध की पारम्परिक सीमाओं को यदि आज के विकसित रंगमंच के संदर्भ में छोड़ भी दें तब भी किसी रचना को पाठक के मनोमंच से हटाकर दर्शक के समक्ष स्थूल मंच पर लाने के लिए संक्षिप्तीकरण सघनता प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है - उसे उपेक्षित नहीं किया जा सकता। लेखक के मंतव्य, रचना

की आत्मा और कलात्मकता की रक्षा करते हुए कथ्य को समकालीन सार्थकता के साथ दर्शक तक सम्प्रेषित करना भी बहुत ही महत्वपूर्ण है। यह कथा साहित्य के मंचन उद्देश्य को पूरा करते हुए अपनी प्रासंगिकता को भी साबित करता है।

आधुनिक भारतीय रंगमंच में साहित्य और अन्य कलाओं की अंतर्निर्भरता तथा पारस्परिक सम्बन्धों के अनेक पहलुओं को लेकर आज कई तरह के संवाद जारी हैं। देखा जाए तो भारतीय रंगमंच अपनी प्रकृति में थियेटर ही है, जिसमें साहित्य और प्रदर्शनकारी कलाएं समाविष्ट है।

कथा साहित्य (कहानी व उपन्यास) के मंचन की सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि श्रेष्ठ साहित्य का एक बहुत बड़ा क्षेत्र निर्देशकों के सामने खुल जाता है। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय द्वारा अजीत कौर की तीन कहानियों 'घोंघा समन्दर', 'सात नीमकश' और 'किस्सा एक कयामत का' की प्रस्तुति की गई। इसमें लेखिका का मानसिक भटकाव पूरी गहराईयों के साथ साकार हुआ।

निश्चित रूप से ऐसी प्रस्तुतियाँ रंगमंच को समृद्ध ही नहीं बनाती वरन् साहित्य को भी नई अर्थवत्ता प्रदान करती हैं। एक ही लेखक की अलग-अलग कहानियाँ व उपन्यास या अलग-अलग लेखकों की कहानियों द्वारा एकाधिक पात्रों के मानसिक जगत की यात्रा अंत में एक ही व्यक्ति के लिए मांगे हुए यथार्थ को मूर्त करती हुई प्रतीत होती है।

इस प्रकार, इन प्रस्तुतियों से साहित्य व रंगमंच के क्षेत्र में नयी दिशाओं की सम्भावनाएँ खुलती हैं। जरूरत इसी बात की है कि निर्देशक सूझ-बूझ के साथ ऐसे प्रयोग करें। स्वतंत्रतापूर्व से लेकर स्वतंत्रता के पश्चात् तक हिन्दी रंगमंच की विकास यात्रा में निरन्तर चलते आ रहे रूपों का वर्णन करते हुए कथा साहित्य का मंचन की भूमिका को हिन्दी रंगमंच की विकास-यात्रा में एक महत्वपूर्ण पड़ाव घोषित किया है। एक साहित्यिक प्रकाश स्तम्भ बनकर साहित्यिक क्षेत्र में व ज्ञान के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दे सकेगा।

हिन्दी रंगमंच के सन्दर्भ में कहानी के अंशों को नाट्यांरित किए बिना सीधे खेलने की जो परम्परा शुरू हुई, वह देश की अन्य भाषाओं के रंगमंच में नहीं मिलती। यह हिन्दी रंगमंच की खास स्थिति के कारण सम्भव हुआ। ''छठे-सातवें दशकों में इब्राहिम अल्काजी द्वारा राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में रंगमंच को लेकर जिस काम की शुरूआत हुई। वह एक ऐसी 'तकनीकी क्रांति' थी जिसने पहली बार नाटक को अखिल भारतीय स्तर पर एक विकासशील और जीवंत रंगमंच का व्यापक सन्दर्भ दिया।

कहानी का नाट्यांतरण किए बिना उसे रंगमंचीय रूप में प्रस्तुत करना अपने आप में कई प्रश्न खड़े करता है। कई आलोचक हिन्दी रंगमंच को अनुवादों और रूपान्तरों का रंगमंच कहते हैं।

इसप्रकार विभिन्न साहित्यकारों के कथा-साहित्य को रंगमंचीयता प्रदान करने की विपुल संभावना देखी जा सकती है और प्रयोगशीलता के नये आयाम में जोड़कर हिन्दी साहित्य को संवर्धित किया जा सकता है। उपन्यास व कहानी का रंगमंच ठेठ हमारा भारतीय रंगमंच है। जिसमें कई सम्भावनाएँ छिपी हैं। जरूरत है उन पर काम करने की और दूर कस्बों, देहातों तक इसे प्रसारित व प्रचारित करने की।

जैसा कि विदित है हर व्यक्ति की जिन्दगी स्वयं में एक नाटक है और उसकी जीवनी एक रंगमंचीय धरातल, ग्राम्य जीवन के परिवेश से लेकर महानगरीय जीवन की विभिन्न शैलियों पर दृष्टिपात करें तो विभिन्न मनोवैज्ञानिक पहलू देखने को अनायास ही मिल जाते हैं। उसे बेशक कोई साहित्यिविज्ञ अपनी लेखनी से शब्द चित्रात्मकता देने की कोशिश करता है, पर वह सफलतम रूप मंच पर ही सामने आ पाता है।

विभिन्न मुहावरों में कहीं-न-कहीं कोई घटना जुड़ी होती है जो हमारे नित प्रतिदिन के जीवन में उपयुक्त होती रहती है। यथा - नाच न जाने आंगन टेढ़ा। खेत खाए गधा, मार खाए जुलाहा आदि का विभिन्न बृहद फलकों में देखकर उसको अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को उजागर किया जा सकता है।

संदर्भः

1. पशयन्ती, धर्मवीर, भारती, पृष्ठ 124-25

2. जयदेव तनेजा, फिल्मी सितारों का एक अभिनय, हिन्दुस्तान, 1 अप्रैल, 1996

3. नटरंग, 1984

4. कहानी का रंगमंच, महेश आनंद

सम्पर्क-शोधार्थी, पीएच.डी. (हिन्दी) जामिया मिलिया इस्लामिया, दिल्ली, मो.-9015098960

लघु-कथा

आजादी

नरेश कुमार 'मीत'

शुक्ला जी सुबह उठकर पौधों को निहार रहे थे कि उन्हें गमले के पीछे कुछ फड़फड़ाहट सी सुनाई दी। उन्होंने गौर से देखा तो एक तोता उसके पीछे छिपने की कोशिश कर रहा था। रात में तेज तूफान आया था उसी दौरान यह आंगन में गिर गया था। शुक्ला जी ने पास जाकर पुचकारा तो इसने कातर दृष्टि से उन्हें देखा परंतु उड़ न सका। किसी हिंसक जीव का चारा न बन जाए, ये ख्याल आते ही करुणा से भरे वे उसे अंदर ले आए। बच्चे इसे देखकर बहुत खुश हुए और पालने की जिद्द करने लगे। मम्मी से एक पिंजरा मंगवाकर ही माने।

अब यह उनके परिवार का ही एक सदस्य बन गया था। पूरा परिवार उसका बड़ा ख्याल रखता था। घर मे कुछ भी खाने पीने की चीज आती तो मिट्टू का हिस्सा सबसे पहले निकाला जाता था। मिट्टू भी उनमें इतना घुलमिल गया था कि कभी उनके कंधे पर बैठता, कभी हाथ पर बैठकर अठखेलियां करता, उनको चोंच से काटने का स्वांग करता। अब धीरे-धीरे वह बड़ा होता जा रहा जब बच्चे स्कूल चले जाते तो वह पिंजरे में बैठा आकाश को निहारा करता। दूसरे परिंदों को उड़ते देख व्याकुल हो जाता। कभी टें-टें की आवाज से अन्य तोतों को पुकारता। यूँ तो यहाँ उसके लिए बढ़िया फल पानी सब बिना प्रयास के ही और आवश्यकता से भी ज्यादा उसे मिलते थे। उसके आगे हमेशा खाने ढेर लगा रहता था। मगर ज्यों-ज्यों वह बड़ा हो रहा था उसकी व्याकुलता बढ़ती जा रही। वह पिंजरे में अपने पंख फड़फड़ाता, कभी उसमे दौड़-दौड़कर चक्कर लगाता तो कभी पिंजरे को चोंच से काटने की कोशिश करता। एक दिन मौका मिल ही गया। जैसे ही उसे पिंजरे से निकाला गया तो वह फुर्र से उड़ गया। बंटी सेब हाथ मे लिए देखता ही रह गया,आंखों से ओझल होने के बाद भी।

अब मिट्ठू के पास न फलों का ढेर था,न पानी और न आशियाना। अब उसके पास मनचाही उड़ान भरने के लिए खुला आकाश और प्रकृति की अपार संपदा थी।

सम्पर्क -9416145673

पेरिस जलवायु समझौता अमेरिकी पलायन और आगे की राह

▢दुलीचंद रमन

अमेरिका के राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप ने पैरिस जलवायु समझौते से हटकर सबसे ज्यादा नैतिक झटका अमेरिकी जनता को ही दिया है जो अपने बचपन से ही अमेरिकी महानता के किस्से सुनकर बडे हुए हैं। इसी अमेरिका को दुनिया की इतनी मिथ्या चिंता थी कि उसने जापान, लीबिया, वियतनाम, ईराक, अफगानिस्तान और सीरिया से लडाईयां लडी। युद्ध के लिये पैसा चाहिये और पैसों के लिये प्राकृतिक संसाधनों का अत्यधिक दोहन। मानवता के इतिहास में अगर किसी एक देश ने पर्यावरण को सबसे ज्यादा क्षति पहुंचाई है तो वह अमेरिका ही है। इस समझौते से हटने के लिये जो भी कारण गिनवाए गये वह भी बचकाने से है। ट्रंप ने यह कहते हुये पैरिस जलवायु समझौते से बाहर होने की घोषणा की है कि इससे तो सिर्फ चीन और भारत को ही फायदा होगा। जो अमेरिका अभी तक 'वैश्विक गांव' की अवधारणा का प्रवचन देकर आर्थिक उदारीकरण का ढिंढोरा पीटता था। वह आज एकांगी और संकीर्ण सोच से प्रेरित आचरण कर रहा है।

पैरिस समझौता क्या है ?

यह एक ऐतिहासिक संधि है, जिस पर विश्व के 195 से अधिक देशों ने दिसंबर 2015 में फ्रांस की राजधानी पैरिस में अपनी सहमति दी थी। भारत ने 2 अक्तूबर 2016 को इस समझौते के प्रति अपनी वचनबद्धता दोहराई है। इस संधि का मुख्य उद्देश्य जलवायु परिवर्तन के बढते खतरे को देखते हुये वैश्विक तापमान में 2 डिग्री सेल्सियस की कमी लाना है। ग्रीन हाऊस गैसों के उत्सर्जन में सन् 2010 की तुलना में 2050 तक 40 से 70 प्रतिशत की कमी लाना है। उसके बाद 2100 तक शून्य का स्तर तय किया गया है। इसमें यह प्रावधान किया गया है कि विश्व के कम से कम 55 देश जो कम से कम 55 प्रतिशत वैश्विक ग्रीन हाऊस गैसों का उत्सर्जन करते हैं और इस समझौते पर हस्ताक्षर कर देते हैं तो यह कानूनी रूप से बाध्यकारी हो जायेगा। इस संधि पर शुरुआत में ही 177 सदस्य देशों ने हस्ताक्षर कर दिये थे। जलवायु परिवर्तन पर इसीप्रकार का समझौता 'क्योटो प्रोटोकॉल' है जिसकी वैधता 2020 तक है लेकिन उस पर व्यापक सहमति की कमी है। कार्बन उत्सर्जन और ग्लोबल वार्मिंग को काबू में रखने के लिये पैरिस सम्मेलन के दौरान समस्त सदस्य देशों ने अपने-अपने योगदान को लेकर प्रतिबद्धता जताई थी। हर देश के स्वेच्छा से कार्बन उत्सर्जन में कटौती के लक्ष्य तय किये गये थे। यह लक्ष्य न तो कानूनी रुप से बाध्यकारी है और न ही इन्हें लागू करने की कोई व्यवस्था अभी तक बनी है।

भारत और पैरिस जलवायु समझौता:-

भारत की लम्बी समुद्री सीमा है। विश्व तापमान में थोडी भी बढ़ोतरी तटीय जनसंख्या और संसाधनों को हानि पहुंचा सकती है। भारत के मौसम के बदलते मिजाज का ही असर है कि चेन्नई, कश्मीर और राजस्थान में बाढ आ जाती है गर्मी के शुरुआती दिनों मे ही पारा 48 डिग्री सैल्सियस तक जा पहुंचता है। गंगोत्री, युमनोत्री के ग्लेश्यिर पीछे खिसक रहे हैं। केदारनाथ जैसी त्रासदी हो सकती है। स्वच्छ पेयजल के स्रोत खत्म हो रहे हैं।

हालांकि भारत में पर्यावरण और विकास के बारे में परस्पर विरोधी नजरिया रहा है। लेकिन हमें सामाजिक आर्थिक और पारिस्थितिक कारणों से हरित अर्थव्यवस्था की ओर बढ़ने की जरूरत है। हमें पैट्रोलियम पदार्थों पर अपनी निर्भरता घटाने का अवसर समझकर अच्छी टिकाऊ और समावेशी अर्थव्यवस्था की दिशा में कदम बढाने चाहिएं। भारत जैसी बढती अर्थव्यवस्था में कार्बन उत्सर्जन में कटौती का अर्थव्यवस्था पर सबसे अधिक असर पडेगा। साल 2030 तक भारत ने अपनी कार्बन उत्सर्जन तीव्रता को 2005 के मुकाबले 33-35 फीसदी कम रखने का लक्ष्य रखा है। इसके लिये कृषि, जल संसाधन, तटीय क्षेत्रों, स्वास्थ्य और आपदा प्रबंधन पर भारी निवेश की आवश्यकता है। भारत-पैरिस समझौते में विकसित और विकासशील देशों के बीच अंतर स्थापित करवाने में सफल रहा था जिसकी टीस डोनाल्ड ट्रंप के करोड़ों डालर वाले ताने में झलकती है।

भारतीय जीवन दर्शन प्रकृति का सहचर माना जाता है। यहां पुरातन काल से ही वातावरण शुद्धि की परंपराएं रही हैं। हमें पंचतत्वों पर आधारित प्रकृति के संरक्षण के लिये कोयला आधारित संयत्रों में कमी लाकर और उर्जा की दिशा में महत्वपूर्ण परियोजनायें शुरु की है।

अमेरिका की स्थिति:-

विश्व के कुल कार्बन उत्सर्जन में अमेरिका 14.35 प्रतिशत उर्त्सजन करता है। जो भारत का दुगुना है। प्रति व्यक्ति कार्बन उत्सर्जन में अमेरिका विश्व में प्रथम है तथा एक आम भारतीय से 8 गुना अधिक कार्बन उत्सर्जन करता है। अमेरिका विश्व की सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था है। यह आर्थिक विकास प्राकृतिक संसाधनों के अत्यधिक दोहन से प्राप्त किया है। अमेरिका को 2025 तक 28 प्रतिशत कार्बन उत्सर्जन घटाना है जिससे उनकी 27 लाख नौकरियों पर खतरा मंडरा रहा है। समझौते के प्रावधानों के मुताबिक विकसित देशों द्वारा विकासशील दशों को नई तकनीक के लिये वार्षिक 6.44 लाख करोड रुपये दिये जाने थे लेकिन ट्रंप की व्यापारिक बुद्धि इसे पचा नहीं पा रही है। 2015 में भारत को इस समझौते के तहत 19 हजार करोड़ रुपये की मदद मिली जिसमें अमेरिका का हिस्सा महज 600 करोड़ रुपये का है। अमेरिका जिस आर्थिक मदद का ढिंढोरा पीट रहा है वह भारत के लिये नगण्य है। इस समझौते से पलायन का एक दुष्प्रभाव अमेरिकी उत्पादनों पर भी पड़ेगा क्योंकि सदस्य देश अमेरिकी उत्पादनों पर कार्बन टैरिफ लगा सकते हैं जिससे वह महंगे हो जाएगें और अंततोगत्वा

अमेरिकी अर्थव्यवस्था पर दुष्प्रभाव पडेगा।

विश्व में प्रतिक्रिया:-

विश्व के सभी देशों ने अमेरिका के इस कदम की निंदा की है। फ्रांस, इटली और जर्मनी ने संयुक्त ब्यान जारी करके कहा है कि अमेरिका एकपक्षीय तरीके से समझौते पर नये सिरे से मोलभाव नही कर सकता। फ्रांसीसी राष्ट्रपति ने तो इसे ऐतिहासिक गलती करार दिया। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पर्यावरण के मुददे पर काम करने वाली संस्था ग्रीनपीस ने भी इसे वैश्विक हितों के विपरित बताया है। ट्रंप की संकीर्ण सोच से निराशा के बीच भी आशा की किरण यह है कि अमेरिका के परम्परागत मित्र देश भी समझौते के साथ खड़े नजर आ रहे है लेकिन एक बड़ा सवाल यह खड़ा होता है कि अगर विश्व का दूसरे नम्बर का प्रदूषक देश अमेरिका ही समझौते को मानने से इंकार कर दे तो पैरिस जलवायु समझौते का भविष्य क्या होगा।

अब आगे क्या ?

अमेरिका के किनारा करने के बाद अब पैरिस जलवायु समझौते का नेतृत्व चीन द्वारा किये जाने की चर्चा शुरु हो गयी। खुद चीन ने भी इसके लिये अपनी रजामन्दी जाहिर कर दी है। यह कुछ-कुछ वैसी ही स्थिति है जैसे बिल्ली को दूध का पहरेदार बैठा देना। चीन का कार्बन उत्सर्जन विश्व के कुल उत्सर्जन का लगभग एक तिहाई है। सीमेंन्ट, स्टील व उर्जा क्षेत्रों में चीन पर्यावरण के तय मानकों का सम्मान नहीं करता। हालांकि पिछले दिनों उसने 100 से ज्यादा कोयला आधारित संयत्रों का निर्माण रद्द कर दिया है। लेकिन अपनी विकास दर को बनाये रखने के लिये और चीनी जनता के रोजगार को बनाये रखने के लिये चीन अपनी वायदों पर खरा उतरेगा, इसमें संदेह है। क्योंकि चीन के लाखों रोजगार कोयले, स्टील के कार्बन उत्सर्जन वाले उद्योगों से जुड़े हैं। अमेरिका के परिदृश्य से हट जाने के कारण चीन को अपनी महत्वाकांक्षाओं को बढाने का मौका मिल सकता है।

इसे विडंबना ही कहा जायेगा कि दुनिया की सबसे बडी अर्थव्यवस्था और स्वघोषित एकमात्र विश्वशक्ति के पास दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में जाकर तनाव पैदा करने के लिये तो धन है लेकिन अपनी भावी पीढियों तक विगत प्रकृति के अंधाधुंध दोहन के पापों के प्रायश्चित के लिये धन की कमी हो जाती है। हम आशा कर सकते हैं कि ट्रंप को यह समझ आयेगी कि एक उद्योगपति और राष्ट्रपति का दृष्टिकोण अलग-अलग होना चाहिये। देर-सवेर अमेरिकी जनता के दबाव में ट्रंप को अपनी हठ-धर्मिता छोड़कर पैरिस जलवायु समझौते को मानना ही होगा। ये अलग बात है कि वह इसके लिये कुछ शर्तों के रूप में राहत चाहेगा जिसका जिक्र ट्रंप ने अपने वक्तव्य में कर दिया था। अमेरिका का यह शुतुमुर्गी रवैया ज्यादा देर तक नही चल सकता।

सम्पर्क-9468409948

अनुभव

अठारह के पीछे कितने जीरो?

❒मानसिह

आज से अठारह वर्ष पहले मैंने स्नातक की परीक्षा दी और आगे पढाई जारी रखने के लिये मैंने एक नीजि विद्यालय मे अध्यापन कार्य शुरू कर दिया। पिताजी छोटी सी सरकारी नौकरी पर थे पर उनके थोड़े से वेतन से परिवार का गुजर बसर बडी जद्दोजहद से चल रहा था। मैंने अध्यापन कार्य करते करते मैंने लोकप्रशासन विषय से परास्नातक की परीक्षा दी और सफल हो गया। पर आर्थिक हालात और भी खराब होते चले गये। अब क्या किया किया जाये कि जीवनयापन सही हो। यह यक्ष प्रश्न मेरे समक्ष खड़ा था।

इस बीच लगभग सन 2005 अगस्त में मैं स्कूल से वापिस घर आ रहा था। उमस बहुत थी। मै साईकिल पर था और पसीने से तरबतर। मेरा गांव शुरू होते ही कुछ बुजुर्ग, जवान और बच्चे पेड़ के नीचे सुस्ता रहे थे। मुझसे दो वर्ष छोटा सुखविन्द्र सिहं जो कि राज मिस्त्री का काम करता था उसके आर्थिक हालात मुझसे अच्छे थे हालांकि उसने अपनी पढाई चौथी कक्षा से छोड़ दी थी और राज मिस्त्री का काम सीखकर पैसा कमाना सीख लिया। उसने मुझे दूर से आते देख लिया और मेरी तरफ चल दिया और मुझे रुकने के लिये कहा। मैने भी सड़क किनारे पेड़ की छांव में साईकिल के ब्रेक लगा दिये। उसने मेरा हालचाल पूछकर आगे बात बढाई और पूछा 'भाई साहब क्या काम करते हो?'

मैने उसको बता दिया। उसने पूछा - स्कूल में आपको कितना वेतन मिलता है?

मैंने एक शब्द में उत्तर दिया - अठारह

उसने पूछा - अठारह के पीछे कितने जीरो?

मैंने कहा - सिर्फ दो

उसके चेहरे पर अजीब सी मुस्कराहट थी और फिर पूछा -'भाईसाहब कितने पढे हो?'

मैंने कहा एम. ए. किया है। तब वह मेरी मनोदशा समझ गया और कहा - 'भाईसाहब वैसे मुझे कहना नही चाहिये पर फिर भी मैं कहूंगा कि इतना पढ़ने लिखने के बाद सिर्फ अठारह सौ? आप चाहें तो मेरे साथ आओ राज मिस्त्री का काम सीखो और अपना काम करो।'

उसकी बात सुनकर मैं बहुत विचलित हो गया और सोचने लगा सुखविन्द्र कह तो ठीक रहा था। शायद उसे इसी काम में मेरा हित लगा हो। मैंने सुखविन्द्र से कहा ठीक है भाई मैं इस बारे में सोचूंगा। यह कहकर मैं चल दिया।

मैं सोचता रहा इतनी परीक्षाओं के बाद इतनी बेचारगी क्यों? हमारी शिक्षा व्यवस्था केवल बेचारा बनाती है? नीजि शिक्षण संस्थाओं में योग्य व पढे-लिखों का इतना शोषण क्यों? मैं अगले दिन विद्यालय गया पर मन में अनेक प्रश्न लिये।

सम्पर्क - 9991713348

राजस्थानी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार रामस्वरूप किसान पर केंद्रित

पसीने के बल सृजन

❑डा. सत्यनारायण सोनी

'मेरा मुख्य कर्म कविता है और मेरे कवि में से ही मेरा कहानीकार निसृत हुआ है और खेती तो मेरा साइडजॉब है।'-रामस्वरूप किसान
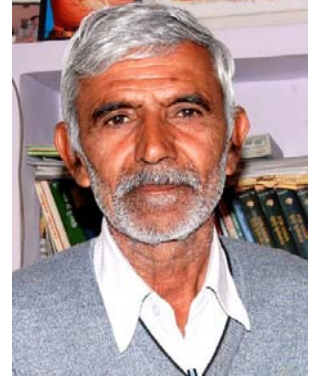
रामस्वरूप किसान का जन्म 14 अगस्त 1952 को राजस्थान के हनुमानगढ़ जिला अंतर्गत परलीका गांव में हुआ। स्नातक तक शिक्षा प्राप्त किसान ने सरकारी नौकरी न कर व्यवसाय के रूप में खेती को चुना। वे असल में किसान हैं। नाम के आगे लगा किसान इनवर्टेड कोमाज में नहीं है। पैंसठ की उम्र में आज भी खेत में हाड़-तोड़ मेहनत करते हैं। उनके यहां सृजन व श्रम एकमेक है। लेखन पसीने के बंट निकलता है। वे एक सीमान्त काश्तकार हैं। किसी भाषा का एक बड़ा राइटर जब उम्र के तीसरे पड़ाव में भी खेती जैसा कठोर कर्म करते हुए सृजनरत हो तो यह एक अजूबे से कम नहीं है। किसी व्यक्ति को बढ़ी दाढ़ी व घिसे कपड़ों में ऊंटगाड़े पर बैठ नित खेत जाते देख कौन कह सकता है कि यह राजस्थानी का बड़ा कथाकार और कवि है। पर यह सच है। रामस्वरूप किसान राजस्थानी कथा-साहित्य में एक बड़ा नाम है। इसका कारण उनकी लोक-सम्पृक्ति है। वे लोक व श्रमशील वर्ग को दूर से देखने वाले न होकर स्वयं उसका हिस्सा हैं। किसान ने अपनी कहानियों में ग्रामीण जीवन का चित्रण किया है। वे ग्रामीण जीवन व संस्कृति के मास्टर हैं।

रामस्वरूप किसान सीधे, सरल, सहज, बेहद स्वाभिमानी व पूर्णतया प्रतिबद्ध लेखक हैं। वे साहित्य में लोभ-लाभ व लेन-देन की नीति के खिलाफ हैं। शॉर्टकट व किसी भी प्रकार के अनुचित मार्ग से हवाई ख्याति प्राप्त करने वाले साहित्यकारों से उन्हें सख्त नफरत है। वे मेहनत में विश्वास करते हैं और अपनी एक-एक रचना पर महीनों तक काम करते हैं। यह मेहनती मिजाज उन्हें कृषि से ही मिला है। वे साहित्य में भी खेती की तरह ही रचते हैं। हर वक्त साहित्यमय रहने वाले किसान सृजन को पार्ट टाइम जॉब नहीं मानते। वे सृजन को मुख्य कर्म मानते हैं। वे लेखन के द्वारा सामाजिक बदलाव के हामी हैं। रामस्वरूप किसान मार्क्सवादी हैं, परन्तु उनके सृजन पर विचारधारा हावी नहीं है। स्वयं विचारधारा उनके सृजन के माध्यम से आलोकित होकर कलात्मक रूप ही धारण करती है। चिन्तन को कलात्मक रूप देने का हुनर कोई रामस्वरूप किसान से सीखे। उनकी प्रत्येक कहानी और कविता में कोई न कोई चिन्तन अवश्य बोलता है। राजस्थानी साहित्य में रामस्वरूप किसान प्रथम ऐसे राइटर हैं जिनकी चिन्तन प्रधान कहानियों की मूल संवेदनाओं व ध्वनित भावार्थों तक राजस्थानी के समीक्षकों की पहुंच नहीं बनी है। किसान की कहानियों का जटिल यथार्थ समझने के लिए बौद्धिक स्तर की जरूरत है। किसान को इस बात की पीड़ा भी है कि राजस्थानी में उनके लेखन को ठीक से समझने वालों की भी कमी है।

इनकी प्रथम पुस्तक है- 'हिवड़ै उपजी पीड़'। यह सात सौ दोहों का संग्रह है, जिसकी लोकप्रियता का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि अब तक इसके तीन संस्करण छप चुके हैं। इसने लोक में अपनी वह साख बनाई है जो बहुत कम पुस्तकें बना पाती हैं। इस पुस्तक के दोहे जन-आंदोलनों में नाच-नाच कर गाए जाते हैं व हथियार की तरह बरते जाते हैं। इस पुस्तक के सात सौ दोहे सात सौ कारतूस की तरह हैं जो पूंजीवादी व साम्राज्यवादी व्यवस्था पर दागे गए हैं। ये सभी दोहे किसान व मजदूर की त्रासदी पर लिखे गए हैं।

किसान की दूसरी किताब है- 'गांव की गली-गली'। यह हिन्दी की एक लम्बी कविता है पुस्तक के रूप में जिसके तीन संस्करण आ चुके हैं। यह पुस्तक लोक की जुबान चढ़ी है। इसमें गांव को अद्भुत ढंग से चित्रित किया गया है।

'कूक्यो घणो कबीर' इनके जनवादी सोरठों का संग्रह है, जो खासा चर्चित रहा है। 'आ बैठ बात करां' राजस्थानी साहित्य में ख्यातिप्राप्त कविता संग्रह है। इसके भी दो संस्करण आ चुके हैं। यह पुस्तक उदयपुर के जनार्दनराय नागर राजस्थान विद्यापीठ विश्वविद्यालय के राजस्थानी पाठ्यक्रम में सम्पूर्ण रूप में पढ़ाई जाती है। इस पुस्तक का डॉ. शेरचंद द्वारा किया गया पंजाबी अनुवाद 'आ बैह गल्लां करिए' पंजाबी साहित्य में चर्चा का विषय रहा है।

राजस्थानी कहानी संग्रह 'हाडाखोड़ी' के भी दो संस्करण छप चुके हैं। इसमें ग्रामीण जीवन को एक अलग दृष्टिकोण से दिखाया गया है। इसमें बीस कहानियां हैं। जिनका बहुत-सी भारतीय भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। संग्रह की 'दलाल' कहानी को दिल्ली की संस्था 'कथा' ने नब्बे के दशक में लिखी गई भारतीय भाषाओं की श्रेष्ठ कहानियों में शामिल किया है। इस पर किसान को राजस्थानी भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अकादमी का मुरलीधर व्यास 'राजस्थानी' कथा साहित्य पुरस्कार तथा ज्ञान भारती कोटा का गोरीशंकर कमलेश राजस्थानी साहित्य पुरस्कार प्राप्त हुआ। 'दलाल' कहानी का अंग्रेजी अनुवाद 'द ब्रोकर' क्राइस्ट यूनिवर्सिटी बैंगलोर (कर्नाटक) के बी.ए./ बी.एससी. समेस्टर 4 के इंग्लिश पेपर और महात्मा गांधी

यूनिवर्सिटी कोट्टायम (केरला) के ऑपन कोर्स ऑफ इंग्लिश पाठ्यक्रम में शामिल है। इसी संग्रह की कहानी 'गा कठै बांधू' को राजस्थान के माध्यमिक शिक्षा बोर्ड ने बारहवीं कक्षा के राजस्थानी साहित्य पाठ्यक्रम में भी शामिल किया है। इस संग्रह का पंजाबी अनुवाद गुरदास सिंह पालना ने किया है।

साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली की राइटरस इन रैजीडेंसी फैलोशिप योजनान्तर्गत प्रकाशित किसान का कहानी संग्रह 'तीखी धार' राजस्थानी कहानी यात्रा में एक नया पड़ाव है। इस संग्रह की कहानियों का कसाव व इनकी मारक शक्ति देखकर रूसी लेखक चेखव की याद आती है। कम शब्दों में बड़ी बात कहने का जो हुनर किसान में है वह इन कहानियों की ताकत है। अपने तीसरे कहानी संग्रह 'बारीक बात' तक आते-आते किसान कुछ ज्यादा ही सूक्ष्म हो जाते हैं और झीनी-सी संवेदना को बड़ी बारीकी से पकड़ते हैं। वे बात का एक बारीक-सा तंतु जिसे कोई विरला ही कहानीकार पकड़ सकता है, पकड़ते हैं और उस तंतु से ही अपनी कहानी का समापन इस तरह करते हैं कि पाठक का अंतस भीग जाता है। वह सोचने पर मजबूर हो जाता है तथा कहानी का कथानक उसके लिए एक यादगार कथानक बन जाता है। 'बारीक बात' पर किसान को चूरू के प्रयास संस्थान ने बैजनाथ पंवार कथा साहित्य पुरस्कार प्रदान किया है।

किसान की कहानियों का कसाव इतना जबरदस्त है कि कोई शब्द निकालने या जोड़ने की गुंजाइश नहीं रह जाती। किसान की कहानी कोरा दृश्य-चित्रण नहीं है, बल्कि उसमें लेखक का चिंतन और पुनर्सृजन का हुनर है। किसान अपने चिंतन, अपने मनोविज्ञान और बौद्धिक स्तर को पात्रों की आत्मा में उतारते हैं और फिर उनकी क्रियाशीलता को कहानी में पिरोते हैं।

किसान के लघुकथा संग्रह 'सपनै रो सपनो' की लघुकथाएं अपनी व्यंजनात्मकता के कारण बहुत ही प्रभावी रही हैं। इस संग्रह की कुछ लघुकथाएं बरसों तक माध्यमिक शिक्षा बोर्ड राजस्थान के पाठ्यक्रम में शामिल रही हैं। इनके अतिरिक्त हिन्दी और राजस्थानी में उनके कई कविता संग्रह छपने के इंतजार में है। किसान की पचपन राजस्थानी कहानियों का हिन्दी अनुवाद डॉ. सत्यनारायण सोनी ने तथा चुनींदा कविताओं का हिन्दी अनुवाद डॉ. जगदीश गिरी ने किया है जो शीघ्र ही प्रकाशित होकर पाठकों के हाथों में पहुंचेगा।

रामस्वरूप किसान श्रेष्ठ अनुवादक भी हैं। उनकी अनुवाद पुस्तक 'राती कणेर' जो कि रवीन्द्रनाथ टैगोर के बांगला नाटक 'रक्त करबी' का राजस्थानी अनुवाद है, को साहित्य अकादेमी नई दिल्ली का अनुवाद पुरस्कार भी मिल चुका है। आपने साहित्य अकादेमी नई दिल्ली के लिए सुरजीत पातर, अवतार सिंह पाश व अमृता प्रीतम की पंजाबी कविताओं का राजस्थानी अनुवाद भी किया है। किसान ने डॉ. जितेन्द्र कुमार सोनी के साहित्य अकादेमी युवा पुरस्कार प्राप्त कविता संग्रह 'रणखार' का हिन्दी अनुवाद भी किया है।

किसान कथा प्रधान राजस्थानी तिमाही पत्रिका 'कथेसर' के संपादक हैं जो राजस्थानी का 'हंस' कहलाती है। यह पत्रिका वर्ष 2012 से लगातार प्रकाशित हो रही है। इस पत्रिका ने अपने अल्पकाल में ही इतनी ख्याति प्राप्त की है कि आज यह राजस्थानी की शिखर पत्रिका है। जिसका श्रेय रामस्वरूप किसान के चिन्तनपरक संपादकीय लेखन को जाता है। किसान के रचना-चयन व निष्पक्षता के कारण पाठकों की संख्या बढ़ती ही जा रही है, पर पत्रिका का जो खास आकर्षण है वह है किसान का बेजोड़ संपादकीय। किसान ने बुजुर्ग कवि राजेराम बैनीवाल की पुस्तक 'राजेराम रा दूहा' का संपादन भी किया है, वहीं हिन्दी व राजस्थानी की अनेक पुस्तकों की भूमिकाओं में आपके साहित्यिक हुनर को देखा-परखा जा सकता है। आप अपने साथियों के साथ मिलकर गांव में मक्सीम गोर्की लायब्रेरी का संचालन भी करते हैं, जिसके माध्यम से ग्रामीणों तक विश्व साहित्य की पहुंच बनी है।

मक्सीम गोर्की के इस कथन पर कि सफल लेखक आम वक्त में लेखक नहीं होकर खून पसीना बहाने वाला आम नागरिक हुआ करता है, किसान खरे उतरते हैं। निश्चय ही किसान की कहानियों से राजस्थानी का आधुनिक साहित्य समृद्ध हुआ है।

सम्पर्क-07742814567

•

रामस्वरूप किसान की राजस्थानी कविताएं

अधूरी कविता रो हिस्सो

म्हैं अेक कविता लिखी
जकी में
अेक किसान रै
खेत बिकणै री पीड़ ही।

अेक फोन आयो-
'म्हैं आपरी
अधूरी कविता रो हिस्सो बोलूं
पैलो हिस्सो।

खेत बिकण री
पूर्व स्थिति हूं म्हैं
जकी उत्तर स्थिति सूं
हजार गुणी पीड़क है
म्हारो नांव दोगाचींती है
विचार अर निर्णय रै बीच रो
कांटां भर्‌यो सफर हूं म्हैं।

इण सफर में चालतो-चालतो
थारो कविता-नायक
लोहीझरान होग्यो हो
पूरै साल
कुचीलै खायोड़ै कुत्तै दाईं
अेक साळ सूं दूसरी
अर दूसरी सूं तीसरी मांय
भचभेड़ी खावतो फिर्‌यो।

कित्ती ईज रातां
आंख्यां मांयकर काढी
कित्ता ईज दिन
काळजो चीर गुजार्‌या
बिसुवा फोड़्या
अेकलो बड़बड़ायो
फगत सांकळ घलणी बाकी रैयी
जद जाय'र खेत बिक्यो
अर उणरी ओरी-सी ढळगी
आज बहोत खुस है बो
उणी भांत
जियां आखै मुलक रा
अस्पताळ छाण'र
कोई बाप
बेटै री मौत पर हुवै।

आप कवि होवतै थकां ई
खुसी अर गम री पिछाण में
गच्चो खायग्या?

म्हैं आपरी कविता नैं
रिजेक्ट करूं
अर उणरी जगां म्हैं बिराजूं।'

स्कूल जावण रै डर सूं

दुनिया रो
अेक ई टाबर
स्कूल जाय'र राजी कोनी।

स्कूल नैं
जेळ मानै टाबर।

इण सारू
हर बगत छुट्टी री
जेवड़ी बंटता रैवै।

सिर-पेट रै उळाव रो सिक्को
जद खोटो होज्यै
लाम्बी बीमारी री
चावना करै टाबर
अठै ताईं
कै कदेई ठीक नीं होवणवाळी
बीमारी री गोद में सोवणो सोखो
अर स्कूल जावणो ओखो मानै बो।

स्यात शिक्षा
मानव-वृत्ति रै खिलाफ है
शिक्षा सूं
मिनख रो
कीं न कीं कटै
जकै री पीड़ नीं सैय सकै बो।

शिक्षा
मिनख सारू
बळद रै कस्सी करावण,
गाय रा सींग ठपावण
का कुत्तै री पूछ कटावण
जैड़ी ई क्रिया है।

खेत

खेत अेक दीठाव है
जको आंख्यां रै गेलै
उणरै हिवड़ै उतरतो रैवै

खेत उणरो
निजू थियेटर है
जकै रै विसाल परदै साम्हीं
फगत अेक ई कुरसी ढळै,
उणरी कुरसी
खेत
अेक घरू परिवेस-खण्ड है उणरो
जकै सूं घिरयो रैवणों जीवण
अर बारै रैवणों मौत

खेत उण सारू
रोटी कम
अर रंग जादा है।

बगत री कतरन

कचेड़ी रा
बै सात घंटा
जकै में बो
भोमीहीण होयो हो
सात अबखा जुग हा

सै सूं उदास बगत री
कतरन ही बा
जकी आज ई
उणरै काळजै री लीर-लीर
जेब मांय
मुड़ी-तुड़ी हालत में
हाम-काम है।

फूल

खेत रो
दाग है
चिमनी-भट्टो
अर
दाग सूं
चुग्योड़ा फूल है
पक्की ईंट।
म्हनैं
हर बंगलै में
खेतां री अस्थियां दिखै।

पक्की ईंट-1

सजायाफ्ता
माटी है
पक्की ईंट
जकी
भींत में चिणीज'र
सजा काटै।

पक्की ईंट - 2

न्यात सूं
टाळ्योड़ी माटी है
पक्की ईंट
जकी नैं
बिरादरी कदे ई नीं अंगेजै
अर
जुगां-जुगां
ठोकर खावती फिरै।

चिमनी भट्टै रो मालिक

माटी रो
हत्यारो है
चिमनी-भट्टै रो मालिक

निर्मम हत्यारो

जको माटी नैं
बाळ'र मारै

अर क्रूरता री हद
कै आग लगावती वगत
जसन मनावै।

किरसी करांति

किरसी करांति रै
इण जुग में
परम्पराऊ फसलां रो चलण
घटण लागग्यो

नवी-नवी फसल
ईजाद होगी
इण बरस

प्रगतिसील किसानां
मकान बीज्या है
खेतां में

अेक-अेक
पौधै रै
दस-दस लाख री
गड्डी लागसी।

अै बीघा

जमींदार रै
ठाडै खेत रा कीं बीघा
हांसै हा

पूछ्यो तो ठाह लाग्यो-
अै आजाद हुया है
आं री बेड़ियां कटी है

जमींदार रै
पावां तळै सूं निकळ'र
मुजारां रै माथै बिराज्या है
अै बीघा

अपमान रो
सम्मान में रूपांतरण है ओ

अब आं नैं
आंख्यां केवा नीं देखणा पड़ैला

डोळी पर सुबकतो बाळ-मजूर
अर बेकसूर कुटीजतो डोकरो
अब आं नैं नीं देखणो पड़ैला

बलात्कार रै दौरान
जमींदार रै बेटै तळै
तड़फड़ावती
किणी मजूरण रै
परस रो दरद
आं बीघां री माटी नैं
नीं भोगणों पड़ैला

अर अब
आं बीघां री छाती
घोड़ां रै सूमां सूं
नीं चींथीजैला

अर खळै में लाग्योड़ै
बोहळ पर
कोई ठप्पैदार
ठप्पो लगावण नीं आवैला।

अलीसेर री लाठी

अलीसेर री लाठी सूं
गा मरगी

अलीसेर री लाठी सूं
अलीसेर मरग्यो।

अलीसेर री लाठी सूं
गांव रा कई जिंदा लोग मरग्या

अलीसेर री लाठी सूं
गांव री कई मर्‌योड़ी लाठियां
जिंदा होगी।

सम्पर्क-9166734004

राजस्थानी कहानी

दलाल

❑रामस्वरूप किसान

म्हैं पसु-बोपार रो नामी दलाल। सिर पर झूठ री मोटी-सारी पांड। जबान पर इमरत रो बासो। गायां रा भैंस्यां तळै अर भैंस्यां रा गायां तळै करतो फिरूं। आखै इलाकै रा बोपारी म्हारी कदर करै। मिलतां ई ढाबै पर ले जावै। ओडर मारै,

''दो चा बणाई रे ढाबाळा!''

ढाबै रो धणी म्हारै कानी ख्यांत'र बूझ्यां बिना नीं रैवै, ''और सुणा रे तनसुख!'' कैवण रो अरथ, म्हनैं घणकरा'क जाणै। म्हैं नीं जाणूं तो बात और।

म्हैं मेळां-ढोळां फिरतो ई रैवूं। दलाल रो और काम ई काईं। पसु-मेळा ईज आखै साल कठैन कठै लागता ई रैवै। ईं कारण म्हारी ध्याड़ती ई बणती रैवै। बा म्हैं थानैं पैलां ई बतादी कै झूठ मोकळी बोलूं। बा म्हारै होठां बड़ी ओपै। अटक्यै सूं अटक्यो अर खोटलै सूं खोटलो पसु धोळै-दिन बिकादयूं। अर सोळवों सोनो खूंटै खड़्यो राखदयूं। लोह नैं सोनो अर सोनैं नैं लोह बणांवतो बार नीं लगावूं। इसी चुटकी मारूं कै ग्राहक नैं साम्हीं पड़्यो लोह सोनो दीखै। आ बात कोनी, कै अेकलै ग्राहक रा कान कतरूं। बेचणियैं री अक्कल में ई मूतूं। इस्यो मंतर मारूं कै पसु खूंटै सूं हाल क्यांरो जावै। धणी आखै मेळै उबासी मारो भावूं। ग्राहक नैं दूज रो चांद बणाय'र दरसण दुरलभ करादयूं। म्हनैं तनसुख दलाल कैवै। हाथां पाळ्योड़ी म्होर बरगी टोरड़ी म्हारी फाक्यां चढ़तां ई धणी नैं खोटां रो डूजो दीसण लाग जावै। बो बीं री नुंवै सिरै सूं परख करणी सरू कर देवै। आंख्यां में इसी धूड़ गेरूं कै बीं नैं सावळ दीसै ई कोनी। सेवट फीको होय'र कैवणी पड़ै, ''थनैं कीकर लागै तनसुख? खोती मांय दम है'क नीं? थूं कैवै तो काटदयूं रांद?'' कैवण रो मतलब, इत्ती हथफेरी है म्हारै कन्नै।

पण म्हनैं चौकस ठाह है, ओ काम आछो कोनी। आखै दिन राध मांय छुरी मारणी पड़ै। म्हैं जाणूं, झूठ सै सूं माड़ी है। पण पेट खातर बोलणी पड़ै। दूजो रुजगार कोनी। न जर न जमीन। बोलो, काईं करां? म्हैं दलाली रो अरथ ई जाणूं। आ ई समझूं कै सगळा इण सबद सूं निफरत करै। अेक दलाल री समाज में काईं इज्जत है, इणरो ई म्हनैं ठाह है। पण मजबूर हूं। इलाज कोनी। सगळां रै भाग में आछो काम कठै पड़्यो है। ईं सारू जी टिका राख्यो है। सोचूं, कई बापड़ा बकरिया ई काटै नीं। बां री पीड़ कण बूझी है? बस, पांती आया धंधा करणा ईज पड़ै।

हां, सरू-सरू में थे सोच्यो हुसी, म्हैं म्हारी बड़ाई करूं। चंटताई रो बखाण करूं। पण अैड़ी बात कोनी। म्हैं तो म्हारी सच्चाई उगळी है। म्हैं आपरै कसाईपणै में कित्तो बांको हो, आ ईज बताई है।

म्हैं गांव आयोड़ो हो। गरमियां रा दिन हा। म्हैं दरवाजै मांय आडो हुयोड़ो हो। सिर पर चिड़कल्यां लड़ै ही। नींद कोनी आयी। निजर छात मांय जा अटकी। लटकता बरंगा मूंडै माथै पड़ण सारू बतळावै हा। बोदा सिणियां म्हनैं ढळती उमर री याद करावै हा। बां रै मांय चिड़ियां रा बिल जीवण रै खोखळैपण री कहाणी सुणावै हा। म्हैं सोच्यो, जिवड़ा, कित्तो झूठ बोल्यो। कित्ता खप्पर चक्या। ठाह नीं कित्ता रोगला पसु खरै पीसां मांय बिकाया अर कित्ता खरा पसु रोगलै पीसां मांय। पेट खातर कित्तो बुरो कर्‌यो। पण ओ बैरी तो फेर ई खाली है। म्हारो ध्यान विगत मांय जावण लाग्यो, पण अेक मिनख आय'र पाछो खींच लियो,

''राम-राम सा!''

''राम-राम भई!''

''तनसुख थांरो ई नांव है?''

''हां-हां।''

''अेक भैंस लेणी ही।''

आ कैय'र बो पगाणै बैठग्यो। पाको आदमी हो बो। उमर, अंदाजन साठेक। बीं रो चे'रो बतावै हो कै आदमी है टूट्योड़ो। म्हैं सोच्यो, ओ तीरथ है। इणनैं कोई कामल-सी भैंस दिराय'र गैलड़ा पाप धोयसूं।

बो पाणी पीय'र भळै बोल्यो,

''हां तो, म्हारली बात सुणी?''

''सुण तो ली पण थे ई कोई देखी है?''
''देखी तो है अेक खोलड़ी, जचाद्यो तो।''
''कीं रै?''
''अठै थारै पड़ोस में ई। कासी कारीगर है....''
'कासी' नांव सुणतां ई गरीबी में कळीज्योड़ो घर अर अेक भोळै-सै आदमी रो चितराम आंख्यां आगै मंडग्यो। कैंसर सूं तड़फड़ांवती बीं री लुगाई अर बीं रै मूंडै कानी जोंवता नान्हा-नान्हा टाबर ई आंख्यां आगै नाच उठ्या। कासी भैंस बेच'र लुगाई रो इलाज करावणो चावै। उण भोत बर म्हारै कानां मांयकर काढ दी, ''खोलड़ी बिका यार तनसुख! थारी भाभी रो इलाज ईं पर ई है। डाक्टरां अपरेसन रो कैयो है। घरां तो फूटी-कोडी ई कोनी। थूं दलाल है। इत्तो काम तो काढ ई दे। थारो हक कोनी राखूं यार।''
इत्तणो तो ठीक है। पण कासी नांव सुणतां ई जको दूजो चितराम आंख्यां साम्हीं आवै, उणनैं देखतां ई धूजणी छूटै। बो है बीमार भैंस रो। कासी री भैंस च्यार बर लोही मूत चुकी। अबकाळै डाक्टरां इलाज तो कर दियो, पण इणरी मौत ईज 'डिक्लेयर' कर दी। बां रो कैवणो है कै दो म्हीनां पछै आ भैंस ओरूं खून मूतसी अर उण बगत इणनैं मरणो ई पड़सी।
म्हैं डूंगी सोच मांय डूबग्यो। माथो पकड़ सोचतो रैयो। सेवट बूढियै ई समाधी तोड़ी,
''हां तो, काईं सोचण लागग्या थे? भूलग्या म्हारली अरज?''
''नां, भूल्यो तो कोनी। काईं कैवै हा थे, कासीआळी भैंस?''
''हां, बा ईज। कोई खोट है? सोच में कियां पड़ग्या थे? मरा ना देइयो। भोत गरीब हूं। छोरै खातर लेय जावूं हूं।''
''छोरै खातर?''
''हां। छौरो बीमार है। दो साल सूं अस्पताळ मांय भरती हो। काल ई घरां आयो है। दूध बतायो है डागदरां। मौल रै दूध नैं गरीब आदमी के पूगै। बैंक सूं 'लोन' लियो है। सोच्यो, भैंस लेयल्यां। छोरै रो इलाज हुय ज्यासी अर कीं दूध बेच'र आटो बपरा लेयस्यां।''
''तो आ बात है?''
''हां, मरा नां देइयो। ध्यान करियो, कदे राध मांय छुरी मारद्यो।''
म्हैं अेक लाम्बो सिसकारो मारयो अर माथो पकड़ लियो। आभो घूमतो-सो दीख्यो। म्हैं लाठी-भींत बिचाळै आयग्यो। काळजो फड़कै चढग्यो। आज पूरा बीस बरस हुग्या हा दलाली करतै नैं। पण इसो कठै ई नीं फंस्यो। आज अण बूढ़ियै बीस बरस री दलाली री सजा अेक ई झटकै मांय देय दी। म्हारै साम्हीं दो भूखा चितराम आप-आप रा हाथ पसारयां खड़्या हा। आ बात म्हारो काळजो खावै ही कै किसै नैं बचावूं? ओ सवाल म्हारै साम्हीं नागो हुय'र नाचै हो कै म्हैं कासी नैं मारूं कै बूढियै नैं? हां कैवूं कै नां? हां रो अरथ बूढियै री हत्या, नां रो कासी री।
बूढियो फेरूं बोल्यो,
'तनसुख जी, चालां कासीआळै घर कानी?''
म्हारै मूंडै सूं चीख निकळगी, ''म्हैं दलाल कोनी बूढिया! तेरो सुवांज आवै सो कर।''
बूढियो लाठी रै ठेगै खड़्यो हुयो अर धूजतै पगां चाल पड़्यो। म्हैं अेकलो रैयग्यो मांची पर। म्हैं भळै आडो हुग्यो अर बियां ई देखण लाग्यो छात कानी।
चिड़कल्यां बियां ई लड़ै ही।

सम्पर्क-09166734004

लघु कथा

दु:ख

❏राधेश्याम भारतीय

गांव में कर्मवीर के पिता की मृत्यु के बाद मास्टर जी उसके घर शोक प्रकट करने आए थे।
''बेटे! मुझे कल ही पता चला था कि तुम्हारे पिता जी इस दुनिया में ...।''
यह सुनते ही कर्मवीर की आंखें नम हो गई और कहने लगा - मास्टर जी, पिता जी तो हमें मुसीबतों की दलदल में डाल गए।''
''क्या!''
'हां मास्टर जी, आप तो जानते ही हैं, शराब तो वे पीते ही थे। कई साल से तो दूसरे नशे भी करने लगे थे।''
''हां, यह लत तो उन्हें शुरू से थी। फिर क्या हुआ?''
''मास्टर जी, वे सारा दिन नशे में धूत रहते थे। मेरी मां से पैसे मांगते , मां कहां से देती। मां को पीटते। कभी-कभी तो हम भाई- बहनों को पीट डालते।''
''किसी ने समझाने का प्रयास नहीं किया?''
''किया था एक बार फूफा जी ने।''
''तो कोई असर पड़ा?''
''कहां मास्टर जी, वे पहले से भी ज्यादा पीने लगे। पियक्कड़ों के साथ शहर के बड़े-बड़े होटलों में जाकर जुआ खेलने लगे। हमें तो तब पता चला जब उन्होंने एक एकड़ जमीन ओने-पोने भाव में बेच डाली। मां ने पैसे बारे पूछा तो उसे ही खरी-खोटी सुनाने लगे। मां माथा पीटकर रह गई ...।''
''तो मृत्यु कैसे हुई उनकी?''
''दो चार महीने गुजरे कि एक रात लड़-झगड़कर घर से निकल गए। सुबह पता चला कि वे सड़क किनारे मरे पड़े हैं....।''
''ओहो! भगवान उनकी आत्मा को शांति दे ...।''
''मास्टर जी, पिता जी ने हमें कहीं का नहीं छोड़ा। अभी चार दिन पहले ही जमींदार का लड़का आया था, कहकर गया कि तुम्हारे पिता जी ने पचास हजार रूपये लेकर खेत गिरवी रखा था ...।''
''यह तो बड़े दुख की बात बताई।
''मास्टर जी, अब हमें दिहाड़ी करके घर का गुजारा करना पड़ रहा है।''
''बेटा, इसमें दुखी होने की बात नहीं। कमा कर खाने में कैसा दुख?''
''मास्टर जी, दु:ख कमाकर खाने में नहीं बल्कि दुख इस बात का है ... कि आज हमें अपने ही खेतों पर दिहाड़ी करनी पड़ रही है ...।'' इतना कहते हुए उसकी आवाज भर्रा गई और वह आगे कुछ न कह सका।
•

लोक संगीत द्वारा सामाजिक जीवन का कोष संचित हुआ है। जन साधारण के लिए स्वप्न, आदर्श, उद्देश्य और कल्पना सब कुछ लोक संगीत में ही मुखरित होता है।-डा. राधाकृष्णन

लोकगीत : सीठने

लोकगीत किसी भी समाज की सामूहिक आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति हैं विशेषत: स्त्री मन की। हरियाणा के लोक गीतों की एक विधा है सीठने। उत्तर प्रदेश में इसे गाली कहा जाता है और पंजाब में सिटनी। ये महत्वपूर्ण इस रूप में है कि इसमें स्त्रियों को पुरुषों की खिल्ली उड़ाने का मौका मिलता है। पद सोपानिक क्रम में सत्ता के विभिन्न केंद्रों का मजाक उड़ाया जाता है। मसलन विवाह में वर-पक्ष की खिल्ली उड़ाई जाती है वधू पक्ष की स्त्रियों द्वारा। पति, ससुर, नणदोई, रिश्तों में सत्ता के प्रतीक भी हैं उनकी खिल्ली उड़ाई जाती है। यहां तक पुरोहित की भी खिल्ली उड़ाई जाती है। पुरोहित भी वर पक्ष का अधिक सत्तावान तो वधु पक्ष के पुरोहित की बजाए उसका मजाक बनाया जाता है। वर पक्ष की स्त्रियों के संबंध वधू पक्ष की स्त्रियों के साथ जोड़ दिए जाते हैं।

विवाह असल में दो परिवारों का मिलन भी है, रस्साकसी व उनमें संघर्ष है। उसे भी ये गीत स्पष्ट तौर पर प्रकट करते हैं। छोटी छोटी जरूरतें व शर्तों को पूरी करने का जिक्र है और उसी में ही माली हालात भी स्पष्ट हो जाते हैं। जो बात वर पक्ष को गंभीर तरीके से नहीं की जा सकती या संबंधों में खटास पैदा कर सकती है उसको हल्के-फुल्के ढंग से इस रूप में कहे जाने का ढंग भी हैं सीठने।

पुरुष-प्रधान समाज में पुरुष के लिए सबसे बड़ी गाली की तरह प्रस्तुत होता है उससे स्त्री के लिए निर्धारित काम करवाना। वो करवाने की बात होती है। पुरुषों पर नियंत्रण करने की आकांक्षा के रूप में निकलता है असल में यह उनका आत्मनिवेदन ही है कि जो उनके साथ प्रतिदिन बीतता है वो व्यक्त करने का अवसर मिल जाता है।

हरियाणा के विभिन्न हिस्सों में विभिन्न बोलियां है और सभी में यह रूप है। भाषा का ही मूलत: अंतर है, भावभूमि व विषयवस्तु लगभग समान है। विवाह के मंगल अवसर पर परिवारजन नाच गा कर खुशियां मनाते हैं। सवाल ये उठता है कि ऐसे अवसर पर जब परिवार के समस्त जन छोटे-बड़े, महिला-पुरुष सभी मौजूद हों तो इस तरह के गीतों की जिसमें गालियां, व्यंग्य, तानाकशी, तंज और खिल्ली उड़ाने को स्वीकृति कैसे मिली। लोक जीवन में देह, काम और भाषा में स्त्री-पुरुष के यौन अंगों का चटखारे ले लेकर खूब जिक्र है। पर सामूहिक तौर पर इसकी अभिव्यक्ति की स्वीकृति एक समाजशास्त्री के लिए खोज का विषय हो सकती है। लेकिन ये बात सच है कि इनके माध्यम से न केवल कुंठाएं बल्कि अपनी आंकाक्षाएं भी प्रकट होती हैं। आधुनिक जीवन से लोकगीत लुप्त हो रहे हैं, लेकिन शगुन के तौर पर उनकी स्वीकृति है, लेकिन सीठनों को फूहड़ता की श्रेणी में डाल दिया गया है इनकी स्वीकृति दिन प्रतिदिन कम होती जा रही है। ये रिश्तों के बदलते स्वरूप का सूचक भी है। बानगी के तौर पर यहां कुछ सीठने पाठकों के लिए प्रस्तुत हैं। - सं.

1

नदी के किनारै पड़ी सै लाल चुन्दड़ी
बोद्दे-बोद्दे आए जिब्बे तो बात बिगड़ी
काले-काले आए जिब्बे तो बात बिगड़ी

2

हमने बुलाये सुधरे सुधरे भूंडे भूंडे आयेरी
हमने बुलाये लंबे-लंबे मोटे नाटे आये री
हमने बुलाये बड़े घरों के ओछे ओछे आये री
हमने बुलाये गोरे गोरे काले काले आये री
हमने बुलाये हाथी के हौदे गधे चढ़ के आये री
छाज का है चंवर डुलाया झाड़ू का है सेहरा री

3

के मोस्सा तूं गाम गया था
के बाहवै था गाड्डी ओ
नया सा बनड़ा पराणा सेहरा,
टूक बराबर भात्ती ओ

4

के देखो बरातियो म्हारै कान्ही
सीमा झिमकदा थारै कान्ही
दिन छिप ग्या काले बादल म्हं
धारी नजर म्हारे काजल म्हं
दिन छिप गया कोरी कुंडी म्हं
थारी नजर म्हारी सुंडी म्हं
दिन छिन गया लाल मंडेरे म्हं
थारी नजर म्हारे डेरे म्हं

5

सुण सुण मौसा सुणी 'क नां
तनै मेरी मौसी गैहणे धरी 'क नां
सुण सुण मौसा सुणी 'क नां
दिल्ली में सोना पाया 'क नां
सुण सुण मौसा सुणी 'क नां
तनै लट्ठे की चादर पाई 'क नां
सुण सुण मौसा सुणी 'क नां
तनै टूम घड़णनै सुनरा पाया 'क नां
सुण सुण मौसा सुणी 'क नां
रोहतक में बाजा मिला 'क नां
सुण सुण मौसा सुणी 'क नां

6

चकले मैं राछ घलाद्यो री चकले मैं
बनड़े नै पीसण लाद्यो री चकले मैं

पीसेगा मोटा, मारूंगी सोट्टा
चलदे का पाडूं लंगोटा, री चकले मैं
बरातियां नै पीसण लाद्यो री चकले मैं
पीसैगे वारी, मारूंगी भवारी
चलदी की करूं सवारी री चकले मैं

7

थमनै बरातियो देक्खण की कै बैण सै
अदल पछ्याण सै चूं चां चप
थमनै मुंह पाड़ण की के बैण सै
अदल पछ्याण सै चूं चां चप

8

म्हारी बेबे इस्सी खड़ी,
जणु कमरे मैम खड़ी
म्हारा जीजा इस्सा खड़ा,
जणु कुरड़ी पै गधा खड़ा
काली कुतिया पूंछ बिना,
सारे बाराती मूंछ बिना।
सरड़क सरड़क पूंछ बिना,
बनड़े की बेबे रूस्सी जा।

9

तम्बू ताण ल्यो ऐ चुगरदे आंधी आयी
मेरे जीजा जी के होंठ, जणु बाजरे के रोट।
मेरे जीजा जी सूडी, जणु नूण मिर्च की कुण्डी।
मेरे जीजा जी के पैर, जणु साइकिल के टैर
मेरे जीजा जी की आंख, जणु बुगले की पांख।
तम्बू....
जीजा जी हो तेरे खाने की चतुराई
जणु भैंस चाट पै आयी।
जीजा जी हो तेरे नहाणे की चतुरायी
जणु सुअर नै लोट लगाई

10

बटेऊ दखोरा का ए उन चावलां पै नीत डिगाई।
जीजा ओ थोड़ा ले जइए ओ मैं 10 का भाव का लाई।
साली रै झूठ मत बोलो कित पड़ जाएगा रै टोटा।
जीजा ओ झूठ मत बोलो कित टिक जाएगा ये सोटा
फिर लाडुआं पै, बरफी पै, जलेबी पै, कहकर फिर यही
लाइनें दोहरानी हैं।

11

परोस दिए भाजी लड्डू पूरी पकवान जी
जीमो जीमो समधी पंच पकवान जी
बताओ बताओ समधी अपनी बात जी
मां हमारी चांदनी और बाबुल पूनो का चांद जी
हमारे सारे भाई राज कुंवर बहन रानी राधिका जी
बहू हमारी चम्पा की कली सोभा है रनिवास की
मां तुम्हारी नटनी और बाप तुम्हारा बटुआ जी
तुम सारे भाई बनजारे बहन तुम्हारी बांदियां सी जी

12

नीम्ब के लागी निम्बोली दादा हो
समधी की रीतगी न्यौली दादा हो
कन्या नै दो परणाय दादा हो
जांडा के लागी झींझ दादा हो
समधी नै आ गई नींद दादा हो
कन्या ने दो परणाय दादा हो
आकां के लागै डोडे दादा हो
समधी के जुड़ गए गोडे दादा हो
कन्या नै दो परणाय दादा हो

13

पैसेरे डट्टे आए री पैसेरे
हम नै बुलाए गोरे गोरे,
काले क्यूं आए री पैसेरे।
पैसेरे डट्टे आए री पैसेरे
हम नै बुलाए छैल पतलिया,
मोट्टे क्यूं आए री पैसेरे
पैसेरे डट्टे आए री पैसेरे
हम नै बुलाए लंबे-लंबे,
गुट्टे क्यूं आए री पैसेरे।
पैसेरे डट्टे आए री पैसेरे
हम नै बुलाए थोड़ा खाऊ,
पेटू क्यूं आए री पैसेरे
पैसेरे डट्टे आए री पैसेरे
हम नै बुलाए पट्ठयां आले,
गंजे-गंजे आये री पैसेरे।
पैसेरे डट्टे आए री पैसेरे
हम नै बुलाए गबरू-गबरू,
बूढ़े-बुढ़े आए री पैसेरे
पैसेरे डट्टे आए री पैसेरे
हम नै बुलाए काच्चे-काच्चे,
मूच्छां आले आए री पैसेरे
पैसेरे डट्टे आए री पैसेरे

14

तूं तो धरम चन्द पतला तेरी जोरू मोट्टी
आप खावै घी चूरमा तन्नै जौ की रोट्टी
आप सोवै सुख सेज पै तन्नै टूटी खटोल्ली
ऐसा काला तूं बण्या रे धरम चंद जिसी उड़द की दाल,
दाल हो तो धो ल्यां तेरा रंग ना धोया जाय
धोया-धोया थाल परोस दिया भात जी।
आओ-आओ (लड़के का नाम) बैठो म्हारै साथ जी।
बैठो म्हारै साथ थे, कांसै घालो हाथ जी।
कांसै धालो हाथ, बताओ थारी जात जी।
बाप म्हारो मालजादो, माय छिंदाल जी।
चारू भाई चोरटा, बहाण कुंदाल जी।
भुवा म्हारी भगतण, मोडिया रै साथ जी।
वाह-वाह रै उदली का जाया, भली बताई जात जी।
वाह-वाह रै नाचण का जाया भली बताई जात जी।
आओ आओ बैठो म्हारै साथ जी।
बैठो म्हारै साथ, करांगा दोय बात जी।
बाप म्हारो चौधरी, माय पटराणी जी।
चारुं, भाई सोरसा बहाण सुजान जी।
भुवा म्हारी शोहदरा रसोइया कै बीच जी।
वाह-वाह रै राणी का जाया भली बताई बात जी।
माल फिरै चरखो घरणावै जी।
कूकरी का मूत मैं यों बटेऊ न्हावै जी।
ऊबा-ऊबा छोरा-छोरी ताल बजावैं जी।
म्हारो जीजो, म्हारो फूफो गंगा जी मैं न्हावै जी।
गंगा न्हायै, गोमती मैं न्हावै जी।
पुष्कर जी की पैड़ियां, मायड़ को दान करावै जी।

15

बाहर सैं एक कूती आई।
वा जीजा की माता आई।
एक बार माता बोल दे, ओ मेरा लाडला जीजा जी।
अं कूती का कान कहियो
जीजा की मां का कान कहियो।
अं कूती की आंख कहियो।
जीजा की मां की सांस कहियो।
एक बार माता बोल दे, ओ मेरा लाडला जीजाजी।

मंगत राम शास्त्री की रागनियां

इसा गीत सुणाओ हे कवि!

इसा गीत सुणाओ हे कवि! होज्या सारै रम्मन्द रोळ,
उट्ठे चोगरदै घमरौळ
इसा राग्गड़ गाओ हे कवि!

माच्ची उथल-पुथल सारै कोए झूठ और साच पिछाणै ना
आप्पा-धाप्पी मची चुगरदै दया-हया कोए जाणै ना
सारै को मदहोस्सी छार्‌यी बुद्धि रही ठिकाणै ना
आपणी डफली राग भी आपणा कोए किसे की ताणै ना
इसा रंग जमाओ हे कवि! होज्या सारै गाद्दळ घोळ,
दिक्खै सब किमे गोळ-मटाळही
इसा डुण्डा ठाओ हे कवि!

धक्का-मुक्की होण लागर्‌यी कोए किसे की नहीं सुणै
इसी कसुत्ती होई मिलावट दूध और पाणी नहीं छणै
दगाबाज होर्‌ये सारे झाड़ै कोए किसे की नहीं गुणै
हाहाकार माचर्‌यी सारै भय का वातावरण बणै
इसा छंद बणाओ हे कवि! खुलज्यां ढके-ढकाए ढोल,
पाट्टै सबकी पट्टी पोल,
इसा नारा लाओ हे कवि!

होर्‌यी झीरमझीर व्यवस्था नहीं बच्या कोए जिम्मेदार
छीना-झपटी होर्‌यी सारै लम्पट फिरग्ये घर-घर-द्वार
न्याय नीति का भाण्डा राज की होर्‌यी बण्टाधार
कोए पारखी बच्या नहीं उरै खळ और खाण्ड बिकै एक सार
इसा शोर मचाओ हे कवि! कोन्या सुणै किसे का बोल,
रहज्यां धरे-धराए मोल,
इसा झूठ चलाओ हे कवि!

इतनी चकाचौंध बढ़ग्यी उरै आंख मिचैं चमकार्‌यां म्हैं
धर्म का डण्डा चलै राज पै शक्ति बढ़ी इजार्‌यां म्हैं
भीड़ के आग्गै चाक्की पीस्सै कानुन बैठ चौबर्‌यां म्हैं
क्यूं खोएं अर्थ फिरै कविताइ नाच्चै राज इशार्‌यां म्हैं
इसा राग बजाओ हे कवि! करज्या मंगतराम मखोल,
फेरबी पाट्टै कोन्या तोल,
इसा भ्रम फैलाओ हे कवि!

बाबत हरियाणा

देशां में सुण्या देश अनोखा वीर देश हरियाणा है।
मैं टोहूं वो हरियाणा जित दूध-दही का खाणा है।।

था हरियाणा हिन्दू-मुस्लिम मेलजोल की कहाणी का
पीर-फकीरों संतों की गूंजी यहां निर्मलवाणी का
उर्दू-पुरबी-पंजाबी-बृज-बागड़ी-बांगरू बाणी का
जमना घाघर बीच ठेठ तहजीब की फिजा पुराणी का
आज दंगे हों जात-धर्म पै नफरत का ताणा-बाणा है।

पहलम दूध बिना पैसे भी आपस में थ्याज्या करता
गऊ-भैंस-बकरी-भेड़ों का रेवड़ चर आज्या करता
सस्ते में होज्या था गुजारा हिल्ला भी पाज्या करता
गरीब आदमी भी डंगवारा कर काम चलाज्या करता
आज डंगर की कीमत बढ़ग्यी सस्ता मनुष निमाणा है।

पहलम तै ज्यादा उत्पादन बढ़्या देश में आज दिखे
अन्न धन के भण्डार भरे होया आत्मनिर्भर राज दिखे
बेशक होया विकास मगर रूजगारहीन बेलिहाज दिखे
क्यों के सबके हिस्से में नहीं आता दूध-अनाज दिखे
आम आदमी नै तो मुश्किल होर्‌या काम चलाणा है।

फौज बहादुरी के किस्से भी खूब सुणे हरियाणे के
जय जवान और जय किसान के नारे जोश जगाणे के
मरदां के संग महिलाओं के जुट कै खेत कमाण के
लेकिन आज सुणो किस्से सरेआम कत्ल करवाणे के
बेट्टी घटैं रोज मात का गर्भ बण्या शमशाणा है।

कुछ गाम्मां में भी शहरों जैसी चकाचौंध तो फैली है
एक हिस्सा तो गाम्मां का भी होया धनी और बैल्ली है।
पर मजदूर किसानों को तो होवै बहोत सी कैली है
आड़ै औरत और दलित विरोधी बहती हवा विषैली है
कहै मंगतराम कर्ज में डूब्या ज्यादातर किरसाणा है।

सम्पर्क-9416513872

•

लगा हुआ स्कूल

▫अशोक भाटिया

नए साल में स्कूल खुल गए थे। रामगढ़ गाँव का यह सरकारी स्कूल मिडिल से हाई स्कूल बन गया था। कुछ दिन पहले वहां एक नया अधिकारी बिना पूर्व सूचना दिए पहुँच गया। उस समय स्कूल में एक सेवादार के अलावा कोई जिम्मेवार व्यक्ति दिखाई नहीं दे रहा था। बच्चे खुले में कूद-फांद रहे थे। गाड़ी को देख वे अपनी-अपनी कक्षाओं में दुबक गए। कमरों में लाइट नहीं थी,गर्मी और अँधेरा था।

क्या बात, किधर हैं सब लोग ?'युवा अधिकारी का पारा चढ़ गया। सेवादार उनके निर्देशानुसार हाजरी का रजिस्टर ले आया।उसमें सभी अध्यापकों की हाजरी लगी हुई थी। अधिकारी को दाल में काला ही काला नज़र आ रहा था। उसने दोषियों को देख लेने की सख्त भाव-मुद्रा बना ली।सेवादार बड़ा अनुभवी था। ऐसे हालात से वह कई बार निपट चुका था। उसने साहब को खुद ही बता दिया कि हेडमास्साब बैंक तक गए हैं। आने ही वाले होंगे।

अध्यापकों के बारे पूछने पर वह तफसील से बताने लगा। पहला नाम सबसे सीनियर टीचर रामफल का था ।

जी रामफड़ गाम मैं ड्राप आउट बाड़कां का पता करण गए हैं ।

और श्रीचंद ?

वो आज बाड़कां खात्तर सब्जी खरीदण ने जा रया सै। मिड डे मील बणेगा।

और ये कृष्ण कुमार कहाँ जा रहा है ?'कड़क अधिकारी ने सेवादार से ही सारी जानकारी लेना ठीक समझा या उसकी यह मजबूरी थी-कहा नहीं जा सकता।

जी किशन भी दूध-धी खरीदणजा रया सै।

सुबह-सुबह क्यों नहीं चला गया ?'अधिकारी ने टांग पर दूसरी टांग रखते हुए पूछा।

--जी वा बच्यां की गिणती करके ले जाणी थी।'सेवादार ने स्पष्टीकरण दिया,जैसे सारी जिम्मेदारी उसी की हो।

अधिकारी ने ठोड़ी पर हाथ फेरते हुए सोचा - सारे बाहर के काम इन टीचर्स को ही दे रखे हैं। अब बाकी के टीचर तो पक्का फरलो पर होने चाहिएं।

वो संस्कृत वाले शास्त्री कहां हैं ?

जी वा नए बाड़कां खात्तर यूनिफाम का रेट पता करण शहर नै जाण लाग र । इहाँ गाम मैं तो मिलदी कोन्या।

अधिकारी सकपका गया,परउसे चौकीदार की बातें सच लग रहीं थीं। अब तक जितना उसने सुन रखा था,उसमें उसे अध्यापक ही दोषी और काम न करने वाले लगते थे। लेकिन यहाँ तो उसे माजरा कुछ और ही लग रहा था। उसे अपना इरादा पूरा होता नहीं दिख रहा था। उसने इधर-उधर देखा,धीरे-धीरे पानी के दो घूँट भरे,फिर चौकीदार से कहा- ये गणित वाले भूषण की भी रामकहानी सुना दे फिर।'

साब वो हर साल स्टेशनरी अर बैग खरीदया करे है। इब्बी आ ज्यागा।

इतने में कैंटीन वाला बुजुर्ग चाय ले आया था। कक्षाओं में से बच्चे रह-रहकर बाहर झाँकते हुए उस अधिकारी को देख लेते,मानो वह चिड़ियाघर से भागा हुआ कोई जंतु हो। अधिकारी को बहुत मीठी चाय भी कड़वी लग रही थी। उसने दो घूँट भरकर अपना काम पूरा करने की कवायद फिर शुरू की।

ये अनिल कुमार भी किसी काम गया है ?

जी,गाम की मर्दमशुमारी की उसकी ड्यूटी लग री सै।

जनगणना तो खत्म हो चुकी है! 'अधिकारी की सवालिया निगाहें उसकी ओर उठीं।

साब वो तो पिछले महीन्ने घर और गाए-भैंस गिणन की हुई थी। इबकै धर्म अर जात का पता करण गए हैं जी।

अब तक पी.टी.मास्टर को भी खबर मिल चुकी थी। वह आखरी कमरे से तेजी से निकला। आकर अधिकारी को करारी नमस्ते ठोकी और अपना परिचय दिया ।वह स्कूल में तरह-तरह के काम करने से बड़ा परेशान था। अधिकारी ने चेहरे पर सख्ती और गर्दन में अकड़ को बढ़ाते हुए उससे पूछा -

आप कहाँ थे? ये बच्चे हुडदंग कर रहे थे। इन्हें कौन कण्ट्रोल करेगा ?

सर, मैं नौवीं क्लास के बच्चों की आँखें और दांत चेक कर रहा था।

ये काम तो डॉक्टर का है!

सर,यहाँ कभी कोई डॉक्टर नहीं आता। पीर-बावर्ची-खर-भिश्ती सब हमें ही बनना पड़ता है।'कहकर पी.टी. मास्टर अपनी भाषा पर मुग्ध हो गया ।

तभी स्कूटर पर स्कूल के मुख्य अध्यापक अवतरित हुए। उन्होंने अधिकारी को बताया कि वे बैंक में बच्चों के खाते खुलवाने के कागज़ात जमा कराकर आये हैं। स्कूल का एकमात्र क्लर्क उस दिन छुट्टी पर था। अधिकारी और मुख्य अध्यापक-दोनों की आँखों में कुछ सवाल और विषय चमके, फिर दोनों की संक्षिप्त बातचीत के बाद उन सवालों की बत्तियां गुल हो गईं। पी.टी.मास्टर बच्चों को आयरन की गोलियां बांटने नौवीं कक्षा की तरफ हो लिया। मुख्य अध्यापक ने अधिकारी को नाश्ते के लिए जैसे-कैसे मनाया और उसे अपने घर की तरफ लेकर चल दिया।

स्कूल फिर पहले की तरह चलने लगा,जो आज तक वैसा ही चल रहा है....

सम्पर्क -9416152100

मोहन -अरै सोहन! यू कुत्ता उल्टा क्यूं लटका राख्या सै?

सोहन - God की पूजा करण खात्तर।

मोहन- न्यं किस तरियां?

सोहन- इसमें के अचरज सै, Dog ने उल्टा करकै ए तो God बणै सै।

- ज्ञान सत्ता से

आबिद आलमी यादगार मुशाअरा

❑रमणीक मोहन

रामनाथ चसवाल अंग्रेजी के प्राध्यापक थे। 'आबिद आलमी' उन का तख़ल्लुस यानी अदबी नाम था। बेहतरीन शिक्षक थे। जुझारू संगठनकर्ता के तौर पर शिक्षकों के अधिकारों और शिक्षा में बेहतरी के लिए ताउम्र प्रयासरत रहे। खूबी यह कि इस के साथ-साथ हरियाणा के बेहतरीन शाइरों में से थे। 1994 में इस जहान से गुज़र गए लेकिन उन्हें याद करने वाले तो आज भी हैं। 4 जून 2017 को डी.आर.डी.ए. हाल, ज़िलाविकास भवन, रोहतक में उन की याद में आयोजित आठवाँ यादगार मुशाएरा हरियाणा और दिल्ली के शाइरों के लिए एक जगह आने का मौका बना। शिरकत करने वाले शाइरों में राणा प्रताप गन्नौरी, के.के.ऋषि, गौहर रज़ा, ज्ञानप्रकाश विवेक, दिनेश दधीचि, सही राम, मनजीत राठी शामिल थे।

जनाब प्रदीप कासनी के सम्पादन में पहले-पहल 1997 में छपा 'आबिद आलमी' की रचनाओं का संग्रह 'अलफ़ाज़' पिछले कुछ सालों से उपलब्ध नहीं था। यह अब हरियाणा ज्ञान-विज्ञान समिति की पहलकदमी से पुन: प्रकाशित हुआ है और कार्यक्रम में इस का भी पुनर्विमोचन किया गया। साथ ही डा. मंजीत राठी 'मानवी' की पुस्तक 'बूंद-बूंद शब्द' का भी विमोचन किया गया- जो उन का दूसरा कविता-संग्रह है। मुशाएरे की शुरुआत से पहले हरियाणा के साहित्य-जगत के जाने-माने हस्ताक्षर, शिक्षाविद और शाइर बलबीर राठी जी के लेखकीय जीवन पर आधारित लघु चलचित्र भी दिखाया गया।

कार्यक्रम की शुरुआत आबिद आलमी यादगार कमेटी के कन्वीनर प्रिंसिपल (सेवानिवृत्त) महावीर शर्मा द्वारा राम नाथ चसवाल के परिचय से हुई। चसवाल साहब के साथ शिक्षक-आन्दोलनों में सक्रियता से काम करने वाले और उन्हें बहुत नज़दीक से जानने वाले प्रिंसिपल शर्मा ने 'आबिद आलमी' को तो याद किया ही, चसवाल साहब को भी एक शिक्षक और संगठनकर्ता के तौर पर याद किया- कि मौजूदा पीढ़ी तक पहुंचें उन के संघर्ष की बातें जिन्हें शायद आज के उपभोक्तावादी युग में याद करने की भी फ़ुर्सत नहीं रहती हमें। मुशाएरे का संचालन जाने-माने शाइर, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय से सेवानिवृत्त प्रो. दिनेश दधीचि ने किया।

शुरुआत आबिद आलमी की ही ग़ज़ल से हुई जो उन की बेटी उपमा चसवाल द्वारा कही गई, जिस के दो शे'र हैं -

मैं देखने में नहीं कम किसी भी मंज़र से
ये और बात है टूटा हुआ हूँ अन्दर से

और

'दबा तो लूँ ये ज़मीं अपने पाओं के नीचे
ये आसमाँ डराता है मुझ को ऊपर से'

मुशाअरे में जीवन और समाज के विभिन्न रंग देखने को मिले। राणा प्रताप 'गन्नौरी' ने अपना कलाम उर्दू में ही नहीं,अपनी माँ-बोली मुलतानी में भी पढ़ा। उन के अशआर में ज़िन्दगी के कई रंग झलके -

ज़िन्दगी की तल्ख़ियों का ज़हर पीना आ गया
आ गया मुझ को भी आख़िरकार जीना आ गया
कर रहे थे बात 'राणा'हम तो बज़्म-ए-ग़ैर की
आप के चेहरे पे क्यों इतना पसीना आ गया।

और देखिए उन की यह ग़ज़ल-

'तेरी निगाह मुझे देखती है बाहर से
मेरा वुजूद तो टूटा हुआ है अन्दर से।
ग़ज़ब तो देख समन्दर बिफरने लगता है
ज़मीन माँग ले रस्ता अगर समन्दर से।
सभी समझते हैं सब साथ जाएगा उन के
कहाँ किसी को भी इबरत किसी सिकन्दर से।
उदास-उदास भी आए अगर कोई यारब
उदास-उदास न जाए कभी मेरे घर से।'

उन की मुलतानी शायरी में पिछले साल हरियाणा में हुई हिंसा की प्रतिध्वनि सुनाई दी -

'मैं कुज पत्थर दिखेन आज़ाद फिरदे शहर दे अन्दर
इथाँ शीशे दा घर कोई ना बणावे चूर कर देसण'

गुड़गाँव से आए जनाब के.के.ऋषि ने अपने कलाम की शुरुआत बच्चों को समर्पित इस शे'र से की -

'ख़ुदा के वास्ते इन को नसीहतें न करो
ये नेक बच्चे बुरे काम सीख जाएँगे'

पर्यावरण और प्रदूषण के प्रति अपनी चिन्ता का इज़हार वे यूँ करते हैं

'जो घर बनाओ तो इक पेड़ भी लगा लेना
परिन्दे सारे मुहल्ले में चहचहाएँगे'

और मौजूदा दौर के हालात पर उन का शे'र था -

'अब उस की क़िस्मत में ठोकरें हैं
जो सीधे रास्ते पे चल रहा है'

मेहनतकश की भावना को उन्होंने यूँ व्यक्त किया एक ग़ज़ल में -

'सोचता हूँ इक ख़ुदा-ए-मेहरबाँ मेरा भी हो
उस की दुनिया में कोई नाम-ओ-निशाँ मेरा भी हो।
उस की लामहदूदियत करती है ये पैदा ख़याल
कुछ ज़मीं मेरी भी हो कुछ आसमाँ मेरा भी हो।

मेरे हाथों के निशाँ हैं हर किसी तामीर पर
क्यों न फिर ख़्वाहिश हो मेरी इक मकाँ मेरा भी हो।
मैं जलाऊँ जिस्म-ओ-जाँ सब के लिए
ज़िन्दगी की धूप में इक सायबाँ मेरा भी हो।
मैं भी शाख़-ए-पुरसुकूँ पर झूम कर देखूँ ज़रा
बिजलियों की ज़द से बाहर आशियाँ मेरा भी हो।
ऐ 'ऋषि' क्या आज के हालात में मुमकिन है ये
ये जहाँ उन का भी हो, ये जहाँ मेरा भी हो।

बहादुरगढ़ के निवासी नामी-गिरामी साहित्यकार ज्ञानप्रकाश विवेक ने कहा -

मन्दिर की सीढ़ियों पर दीपक जला रहा हूँ
यानी कि भगवान को रस्ता दिखा रहा हूँ

और

बुरे दिनों के लिए तुमने गुल्लकें भर लीं
मैं दोस्तों की दुआएँ बचा के रखता था।

उनके कलाम में आम आदमी की बात भी थी -

आप के जश्न में शामिल मैं नहीं हो सकता
दोस्तो मैं तो हूँ थोड़ा सा कमाने वाला।

और

जलते नगर में शोर मचाने वाला मैं
एक अकेला आग बुझाने वाला मैं।
आप नए म्यूज़िक के हो सरताज मगर
वारिश शाह की हीर सुनाने वाला मैं।
हथियारों की मण्डी के तुम सौदागर
कागज़ की तलवार बनाने वाला मैं।
लौट आता हूँ रोज़ बुलन्दी पर जा कर
होटल की हूँ लिफ़्ट चलाने वाला मैं।

कुरुक्षेत्र से आए दिनेश दधीचि ने अपने अनोखे अन्दाज़ में फ़रमाया

तब्सरा ये क़त्ल पर उन का हुआ -
'ठीक है, ऐसा हुआ, तो क्या हुआ?'
अपना मुस्तक़्बिल लगा था दाँव पर
कितनी आसानी से ये सौदा हुआ।
ज़िक्र तक उस बात का आया नहीं,
आप का चेहरा है क्यूँ उतरा हुआ?
बात कल ऐसी कही मैंने कि वो
आज भी है सोच में डूबा हुआ।
लब हिले उस के, तो मैं समझा नहीं
वो उठा था 'अलविदा' कहता हुआ।
आ रहा है आप की जानिब, जनाब,
बेअदब सैलाब ये बढ़ता हुआ।
था तक़ाज़ा फ़र्ज़ का बस इस लिए?
आप ही कहिए, ये क्या मिलना हुआ?

और एक और ग़ज़ल के ये अशआर -

अनहोनी इस नई सदी ने दिखला दी
और न जाने आगे क्या-क्या देखेंगे।

तथा

आँख निरन्तर खुली रखेंगे तब जा कर
एक सुनहरे कल का सपना देखेंगे।

दिल्ली से आए गौहर रज़ा और सही राम की रचनाएँ मौजूदा राजनैतिक सांस्कृतिक हालात पर टिप्पणियाँ थीं। गौहर रज़ा ने 'आबिद आलमी' को श्रद्धांजलि देते हुए अपनी नज़्म पढ़ी -

शाम ढली तो सुबह ने पूछा
तेरे दर तक आऊँ न आऊँ?

काला अम्बर लाख दीयों की
माला अपने हाथ में ले कर
आँखें मूँदे, सर को झुकाए
घात में मेरी बैठा हुआ
मैं तेरे दर तक आऊँ न आऊँ?

शाम ढली तो सुबह ने पूछा
तेरे दर तक आऊँ न आऊँ?

गर कल जैसा कल गुज़रेगा
फीका-फीका बेरंगा सा
उम्मीदों का, आस का मक़्तल
बस ज़िल्लत का भार उठाए
तब आ कर क्या करना है
मैं तेरे दर तक आऊँ न आऊँ?

शाम ढली तो सुबह ने पूछा
तेरे दर तक आऊँ न आऊँ?

दिल्ली से ही आए सही राम ने दंगों की विभीषिका की याद दिलाते हुए रचना पढ़ी - अब शहर में है शांति दंगे हो जाने के बाद।

मनजीत 'मानवी' कई रचनाएँ साझा कीं। उन में से कुछ हिस्से मुलाहज़ा फ़र्माइये।

ख़ुदगर्ज़ सियासत की, क्या कहानी हो गई
हर शै आज जंग-ए-ताक़त की दीवानी हो गई।
कुछ इस तरह रंगी तू मज़हब के रंग में
कि इन्सानियत की ख़ुशबू ज्यों बेगानी हो गई।
मर्दानगी की तूने, अजब दास्ताँ लिखी
औरत जो करे बगावत तो, मर्दानी हो गई।
कैसे बचेंगी बेटियां, इक ऐसे देस में
जहां इज़्जत और प्रेम की, नीलामी हो गई

उन की शायरी में पिछले साल रोहतक में हुई हिंसा के रंग भी झलके। उन की रचना 'मेरा शहर' शुरू होती है एक सवाल से -

जाने क्या अफ़वाहें चलीं दिन भर गलियों में
रात को देखा तो हर हाथ में पत्थर था
हर सूरत अजनबी थी, हर नज़र पशेमां
क्या ये शहर मेरा ही शहर था?

जो बढ़ती है कुछ इस तरह हालात का जायज़ा लेते हुए कि

हर गली के मोड़ पे, पहरा था रात भर का
यक़ीनन ये गहरी किसी साज़िश का असर था।

लेकिन अपने अन्त को पहुंचते-पहुंचते आस जगाती है कि

कई चराग़ जल रहे हैं, कुछ ख़्वाब पल रहे हैं
यकीनन ये नगर मेरा ही नगर था।

आस का यह दामन पकड़े रहते ही बात ख़त्म हो तो बेहतर!

सम्पर्क-9729471388

•

शहीद भगत सिंह व डा. भीमराव अम्बेडकर की विचारधारा
शोषित वर्ग को लड़ने का मार्ग

◻ अश्विनी दहिया

23 मार्च 2017 को कुरुक्षेत्र के अम्बेडकर भवन सैक्टर आठ में नागरिक सुरक्षा एवं न्याय समिति के बैनर तले एक सभा का आयोजन किया गया, जिसमें शहीदों को याद करते हुए उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित की गई।

सभा में मुख्यातिथि के रूप में युनिवर्सिटी कुरुक्षेत्र के सेवानिवृत अर्थशास्त्र विभाग के प्रोफैसर व डीन आफ कालेज टी.आर. कुंडू ने शिरकत की। कार्यक्रम की अध्यक्षता सेवानिवृत कालेज प्रिंसीपल डा. ओम प्रकाश करूणेश ने की।

समिति के संयोजक व सभा के मुख्य आयोजक पूर्व कर्मचारी नेता महावीर प्रसाद दहिया ने मंच का संचालन करते हुए शहीद-ए-आजम भगत सिंह के जीवन, कुर्बानी व विचारधारा का संक्षिप्त विवरण देते हुए सभा की शुरूआत की। उन्होंने कहा कि भगत सिंह न केवल देश की आजादी के लिए, बल्कि वह तो देश के मेहनतकश मजदूर, किसान, विद्यार्थी, दलितों व महिलाओं के शोषण के खिलाफ लड़ाई लड़ना चाहते थे।

मुख्य वक्ता के रूप में कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्रोफेसर व दलित चिंतक डा. सुभाष चंद्र ने कहा कि देश की आजादी की लड़ाई में अधिकतर की लड़ाई राजनीतिक सत्ता हासिल करने तक ही सीमित थी। परन्तु शहीद-ए-आजम भगत सिंह ने देश के मजदूर, किसान व कमेरा वर्ग की जनता का सामाजिक व आर्थिक गुलामी से आजादी की विचारधारा को जन्म दिया। भगत सिंह ने अपने छोटे से जीवन में जाति प्रथा, साम्प्रदायिकता व अंधविश्वास जैसी सामाजिक कुरीतियों के समाधान के बारे में अपने क्रांतिकारी विचारों से एक नई दिशा देने का काम किया।

डा. सुभाष ने भगत सिंह व डा. भीमराव अम्बेडकर की विचारधारा की समानता पर प्रकाश डाला। आज के समय के समाज में जातिवादी, साम्प्रदायिकतावादी ताकतों के खिलाफ लड़ने की जरूरत बताई। शहीद भगत सिंह व डा. भीमराव अम्बेडकर ये दोनों ही ऐसी विचारधारा हैं जो इस समस्त शोषित वर्ग को इन ताकतों से लड़ने की सही तरीके से मार्ग प्रशस्त कर सकती हैं।

दूसरे वक्ता पूर्व छात्र नेता व जाने-माने कानूनविद्ध राजविन्द्र चंदी ने बताया कि उस समय ब्रिटिश सत्ता के लिए फांसी देना सत्ता की जरूरत थी और इस जरूरत को पूरा करने के लिए कानून का गलत करीके से प्रयोग किया गया। पूरे विश्व में अनेकों क्रांतियां हो रही थी। रूस की क्रांति से पूरा विश्व प्रभावित था। ब्रिटिश सत्ता इस बात को भली-भांति जानती थी कि भगत सिंह व क्रांतिकारी दल रूस की क्रांति से पूर्ण रूप से प्रभावित हैं। लार्ड ईरविन ने जल्दबाजी और आनन-फानन में अध्यादेश पास किया। इस अध्यादेश को न तो भारत न ही ब्रिटेन की पार्लियामैंट में पास करवाया गया व स्पेशल मैजिस्ट्रेट लाहौर की बजाए ट्रिब्यूनल को ट्रायल पूरा करने के लिए दे दिया गया। भगत सिंह से ब्रिटिश सत्ता इतनी घबराई हुई थी कि ट्रिब्यूनल ने कुल पांच सौ सत्तावन गवाहों में से केवल पांच गवाहों के ही क्रोस एक्जामिन किया जो एपरूवर सरकारी गवाह थे। एपरूवर वो होता है, जो क्राईम में शामिल तो होता है, लेकिन सरकारी गवाह बन जाते हैं। इन पांचों का एफआईआर में नाम तक नहीं था। न ही कोई बरामदगी (जैसे बंदूक, बारूदी आदि) हुई।

मुख्यातिथि प्रोफेसर टी.आर. कुंडू ने सभा को संबोधित किया। उन्होंने शहीद-ए-आजम भगत सिंह के व्यक्तित्व व उनकी विचारधारा को आज के समय की युवा पीढ़ी के लिए प्रेरणा स्रोत बतााया व कहा कि स्कूल, कालेज में पढ़ने वाले युवाओं को भी केवल और केवल शिक्षा ग्रहण करके रोजगार प्राप्त करना ही उद्देश्य न होकर शहीद भगत सिंह की तर्ज पर देश व विदेश की विभिन्न आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक स्थितियों व समस्याओं के बारे में जागरूक व चेतनाशील होना पड़ेगा और देश व समाज को हमेशा तत्पर रहना पड़ेगा।

अध्यक्षीय भाषण में पूर्व प्रिंसीपल डा. ओमप्रकाश करूणेश ने सभा के सफल आयोजन के लिए बधाई दी व सभा को कामयाब बनाने के लिए सभा में आए सभी गणमान्य नागरिकों का अभिवादन किया।

कार्यक्रम में कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के छात्र-छात्राओं ने क्रांतिकारी गीत गाए। छात्र नेता सुशील, सुरेन्द्र, प्रवीण टिंकू, पूर्व कर्मचारी नेता मान सिंह, कर्मचारी नेता ओमप्रकाश, सुभाष, बलदेव आदि ने शिरकत की। अम्बेडकर भवन सभा की ओर से अजमेर सिंह, ओमप्रकाश पूनिया, जगत राम, डा. कर्मबीर, डा. प्रेम सिंह आदि मौजूद रहे। सभा में कई कर्मचारी महिला नेता भी शामिल थीं।

सम्पर्क - 9416220012

•

खलील जिब्रान

आजादी

वह मुझसे बोले--
किसी गुलाम को सोते देखो
तो जगाओ मत, हो सकता है
कि वह आजादी का सपना
देख रहा हो।
'मगर किसी गुलाम
को सोते देखो तो उसे जगाओ
और आजादी के बारे में
बताओ।' मैंने कहा।

अलीगढ़ : समलैंगिकता पर विमर्श

▫विकास साल्याण

''नैतिकता की परिभाषा हर एक के लिए अलग होती है, जो लोग शाकाहारी होते हैं वह मांस खाने वाले को अनैतिक समझते हैं, जो लोग शादीशुदा हैं वो लोग तलाक लेने वाले को अनैतिक समझते हैं। नैतिकता की सीमा क्या है? अगर कोई, किसी के नैतिक दायरे से बाहर चला जाए तो क्या उसे सजा मिलनी चाहिए, अगर ऐसा है तो देश के हर एक नागरिक को किसी न किसी के नैतिक दायरे से बाहर जाने के उल्लघंन में सजा मिलनी चाहिए'' - हंसल मेहता द्वारा निर्देशित व मनोज वाजपेयी द्वारा अभिनीत फिल्म अलीगढ का संवाद है यह।

यह फ़िल्म ऐसे विषय पर बनी है जो भारतीय समाज की नजर में बहुत बड़ा पाप व अपराध है। वह मुद्दा है समलैंगिकता का। विश्व स्तर पर समलैंगिकता को स्वीकृति मिल रही है परन्तु भारत जैसे विकासशील देश में इस विषय पर फ़िल्म बनाना भी अपराध की तरह माना जाता है।

फ़िल्म अलीगढ में रामचन्द्र सिरस (मनोज वाजपेयी) अलीगढ विश्वविद्यालय के भाषा विभाग के अध्यक्ष व मराठी के प्रोफेसर हैं। 64 वर्षीय अध्यापक अकेले रहते हैं, कविता लिखते हैं,संगीत सुनते हैं और अपनी शारीरिक जरूरतों को पूरा करने के लिए अपने दोस्त की सहायता लेते हैं।

एक स्टिंग ऑपरेशन में दो पत्रकारों द्वारा उनके घर में घुसकर उनके निजी सम्बधों की क्लिप बनाई जाती है और अगले दिन वो खबर सभी अखबारों व न्यूज चैनलों की सुर्खियां बन जाती है और उन्हें परिणामस्वरूप युनिवर्सिटी से निष्काषित कर दिया जाता है और सात दिनों में घर खाली कर देने का नोटिस दिया जाता है और उनके पुतले फूंक कर सामाजिक तौर पर जलील किया जाता है। दीपू(राजकुमार राव) नामक एक पत्रकार जो इस खबर को मानवीय दृष्टि से देखता है और प्रो.सिरस की सहायता के लिए आगे आता है और उनके लेख से कुछ सोशल एन.जी.ओ. उनकी सहायता के लिए आगे आती हैं और उनको थोडी राहत मिलती है।

समलैंगिकता को अलग-अलग दृष्टि से देखा जाता है कुछ समलैंगिकता को मानसिक बीमारी मानते हैं। कुछ इसे परिस्थितियों के कारण उत्पन्न आदत मानते हैं तो कुछ एक सामान्य प्राकृतिक कृत्य मानते हैं। लेकिन तीनों ही स्थितियों में किसी भी प्रकार से इसे अपराध या पाप नहीं माना जा सकता। वह कार्य जिसे बिना किसी को कोई नुकसान पहुंचाए अपनी इच्छा से अपने निजी संतुष्टि के लिए करे तो उसे अपराध की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता ।

फ़िल्म में प्रो.सिरस को कोर्ट में व कोर्ट के बाहर समाज में दोनों जगह बदसलूकी की स्थिति का सामना करना पड़ता है। कोर्ट में उनसे पूछा जाता है कि आपका आपके फ्रेंड से कैसा संबंध था ? क्या आप सेक्स करने के लिए पैसे देते थे? आप दोनों के बीच मर्द कौन था ?

समाज में उसको कोई किराये पर कमरा देने को तैयार नहीं। उनसे ऐसा व्यवहार किया जाता है कि जैसे वो कोई इंसान नहीं बल्कि कोई छूत की बीमारी हो।

यह बात अपने आप में चौंका देने वाली है कि डाक्टर भी उससे भेदभाव करता है। डाक्टर का पद हमारे समाज में संकीर्णताओं को तोड़ने वाला होता है।

इस तरह के सामाजिक बहिष्कार के साथ जीना सम्भव कैसे हो सकता है। यह एक अति दयनीय स्थिति है जिसमें मनुष्य को अपना जीवन झूठ के साथ जीना पडता है और वह अपने आपको ही धोखा देता है। ये सब बातें दर्शाती हैं कि भारतीय समलैंगिक कम्युनिटी कैसे अपना जीवन जी रही है। किस तरह वह अपने भावों का दमन करके घुट कर जीते हैं।

लेकिन इसके पीछे किसी इंसान की जुड़ी भावना और उसकी शारीरिक व मानसिक आवश्यकता को कैसे नजरअंदाज कर सकते हैं। इसी भावना को मनोज वाजपेयी फिल्म में एक संवाद के माध्यम से समझाने की कोशिश करते हुए कहते हैं जब पत्रकार दीपू उसके सामने गे शब्द का प्रयोग करता है,तो वह कहता है

'कोई मेरी फिलिंग तीन अक्षरों से बने शब्द से कैसे समझ सकता है। यह एक कविता की तरह भावात्मक, एक तीव्र इच्छा जो आपके काबू से बाहर होती है - एन अनकंट्रोलएबल अर्ज''

इस तरह का जीवन जीने में बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

समलैंगिकता को अलग-अलग दृष्टि से देखा जाता है कुछ समलैंगिकता को मानसिक बीमारी मानते हैं कुछ इसे परिस्थितियों के कारण उत्पन्न आदत मानते हैं तो कुछ एक सामान्य प्राकृतिक कृत्य मानते हैं। लेकिन तीनों ही स्थितियों में किसी भी प्रकार से इसे अपराध या पाप नही माना जा सकता। वह कार्य जिसे बिना किसी को कोई नुकसान पहुंचाए अपनी इच्छा से अपने निजी संतुष्टि के लिए करे तो उसे अपराध की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता ।

लोग नफरत करने लग जाते हैं। लोग संकेतों से बहुत कुछ बोल जाते हैं। भावनात्मक चोट के घावों को भरना बेहद ही मुश्किल होता है। अंत में प्रो.सिरस सुसाईड कर लेते हैं।

यह एक नया प्रयोग का विषय है क्योंकि पहले भारतीय सिनेमा में गे की पहचान एक लचीले व नाजुक सा दिखने वाले करैक्टर के रूप में होती थी जो एक लम्बे-चोड़े मर्द को देखकर आकर्षित हो जाता था और हास्य, व्यंग्य तक ही सीमित था परन्तु पहली बार हिन्दी सिनेमा में समलैंगिक (गे) को एक सामान्य पुरुष के रूप में पहचान मिल पाई। यह भी स्पष्ट किया है कि उसका भी अपना जीवन होता है,उसकी कुछ आकांक्षाएं होती हैं और जो लोग नैतिकता का झण्डा उठाए फिर रहे हैं उन्हें शायद नैतिकता की परिभाषा को संशोधित करना पड़ जाए। यह फ़िल्म आने वाली पीढी को एक नई दृष्टि व दिशा प्रदान करेगी ।

सम्पर्क-9991378352

'दायरा'
संकीर्ण सामाजिक दायरों पर प्रहार

▢विकास साल्याण

रोहतक के फ़िल्म एवम् टेलीविजन संस्थान के छात्रों द्वारा बनाई गई 'दायरा' फ़िल्म हरियाणवी सिनेमा को नई दिशा की ओर ले जा रही है। इस फिल्म में उस गहरे व कड़वे मुद्दे को उठाया गया है। जिसके कारण हरियाणा विश्व में प्रसिद्ध है वह मुद्दा है ऑनर-किलिंग का। जो वास्तव में बड़ा गम्भीर व संवेदनशील विषय है। लेकिन 'दायरा' फ़िल्म सीमित दायरे के मध्य ही पहुंच पाई। फिल्म की चर्चा कुछ लोगों के मध्य तक सीमित न रहकर बृहद सामाजिक दायरों में चर्चा के रूप में शामिल होनी चाहिए।

फिल्म में नायिका का प्रेम-संबध था और अब वह गर्भवती हो चुकी है, यह बात उसका पिता सहन नहीं कर पाता है और परेशान रहता है और हर समय यही डर उनके चेहरे पर रहता है कि लोग क्या कहेंगे ? इसी सामाजिक डर से वह आत्महत्या कर लेता है। लडकी का भाई फौज में है वह घर छुट्टी आता है तो घर आकर पता लगता है कि पिता जी देह त्याग चुके हैं। पिता का दाह संस्कार करता हैं। उसको माता से बहन के बारे में पता लगता है तो वह भी इस बात को सहन नहीं कर पाता। इसके बाद हर रोज उसकी मां उसको हर रोज उकसाती है कि 'इस लडकी का कुछ करो'। उस पर इतना जोर दिया है कि वह अपनी बहन को एक दिन मार डालता है ।

फ़िल्म में विभिन्न दायरों का जिक्र हुआ जो सदियों से हमारे समाज में कायम है और आज के विकासशील व प्रगतिशील कहे जाने वाले आधुनिक समाज में आज भी टूट नहीं पा रहे। वो दायरे हैं - पिता का पुत्र से , भाई का बहन से, माँ का बेटे से। एक ही परिवार में दायरों का उत्पन्न हो जाना एक सामाजिक विसंगति है, अगर यह सच नहीं है तो वो क्या बात है जो एक पिता को आत्महत्या करने पर मजबूर कर देती है, माँ को अपनी बेटी की जहर देने पर मजबूर कर देती है, एक भाई को अपनी बहन को लकड़ी की तरह काटने पर मजबूर कर देती है।

हरियाणवी सिनेमा को एक नई दिशा व असली रंग दिया गया है। वास्तविक हरियाणा का दर्शन इस फ़िल्म में है। पहले की हिट-हरियाणवी फिल्मो में पगडी,धोती-कुर्ता, औरतों के घागरा चुन्नी पहनना आवश्यक अंग माना जाता है और इसके अलावा आर्टीफीशियल तैयार की गई हरियाणवी साँझी व दीवार पर छोड़े गए लाल डोरे ही हरियाणवी संस्कृति की पहचान माना गया है। जो यह उन हरियाणवी संस्कृतिकर्मियो की सोच है जो पीटर-इंग्लैंड के कोट पहन कर और सिर पर पगडी लगाकर मानते हैं कि इसके बिना हरियाणा दिख ही नही सकता। इसे छोड़कर आगे बढ़ना एक नई पहल है और जो असल हरियाणा पहले की फिल्मों से गायब था उसे निर्देशकीय दृष्टि ने कैमरे के माध्यम से दर्शकों के सामने प्रस्तुत किया ।

अभिनय में माता व पिता के किरदार में जोरदार भूमिका निभाई है। फिल्म में एक सीन बडा बेहतरीन दिखाई देता है जब लड़के के पिता की मृत्यु के पश्चात उसका पड़ोसी उसे सीधा बात न कहकर इशारों में समझाता है। इस फिल्म में संकेतों का प्रयोग किया गया है जो कला को प्रस्तुत करने का बेहतरीन ढंग है। इसमें कई ऐसे दृश्य है जहाँ संकेतों के माध्यम से सब कुछ कह दिया है जैसे पिता की आत्महत्या से पहले उसका घर से बाहर जाना और आत्महत्या के वक्त कैमरे का फोकस केवल पंखे पर रखना, क्योंकि लटकती हुई लाश को दिखाना कोई अच्छी बात नहीं होती। लड़की का भाई जब लकडी को काट रहा है वह लकड़ी को नही उसके माध्यम अपनी बहन को काट रहा है इस समय इस दृश्य में वहाँ से बहुत सी बातें उभर कर आ रही हैं, एक तो इस समय वह जूझ रहा है क्योंकि बहन को मारना उसके लिए बड़ा कठिन है परन्तु सामाजिक दबाव के कारण ये करने को भी मजबूर है, जब कुल्हाड़ी का वार लकड़ी पर पड़ता है तो वह उछलती है। यह भी प्रतीक है कि आप अपने सामने की परिस्थितियों का जोर-जबरदस्ती से दमन कर रहे हो, आप इसका हल ढूंढने का कोई प्रयास नहीं कर रहे । संकेतों के माध्यम से दर्शकों को रोमांचित करना सिनेमा में कला का एक नया रूप विकसित हुआ है। उम्मीद है कि हरियाणवी दर्शकों को यह संकेतात्मक भाषा जरूर समझ आ पाएगी।

हरियाणा में लड़कियों के अपने जीवन के बारे में फैसले लेने पर भी दायरे हैं। फ़िल्म में लड़की घर से बाहर जाकर दायरा तोड़ चुकी है।

सम्पर्क-9991378352

सतीश कुमार कंवारी

प्रवासी मजदूर

मेरा मजहब मेरी रोटी, मैं रोटी खातिर आया हूं
कुछ नहीं है मेरे पास, संग परिवार भी लाया हूं

बना ली है झुग्गी सैक्टर में, मैं भी सैक्टर वासी हूं
भैया, पूर्वइया चाहे बिहारी कहो, असली भारत वासी हूं
कम पैसों में काम करूं सबके मन को भाया हूं
मेरा मजहब मेरी रोटी.........................

नंगे बदन घूमते बालक तालिम कोसों दूर हैं
कौन सुनेगा फरियाद इनकी हालातों से मजबूर हैं
हूं गरीब मान लिया, पर इसी देश का जाया हूं
मेरा मजहब मेरी रोटी.........................

खुले में नहाती बेटी, घूर रहे शरीफ इंसान
झूठी इनकी शानो शौकत, झूठा है सब दीन इमान
मै हूं मेहनत, मेहनत मुझसे, मेहनत का ही साया हूं
मेरा मजहब मेरी रोटी.........................

सांझ ढली हुआ अंधेरा ये निशाचरों का शहर है
अमृत जैसी वाणी बोले रग-रग में इनके भरा जहर है
व्यथा सुनाऊं किसको जाकर बीमार लोकतंत्र का साया हूं
मेरा मजहब मेरी रोटी

सम्पर्क-9416649811

डा. ग्रेवाल स्मृति व्याख्यान

मौजूदा दौर में राष्ट्रवाद : मुद्दे और चुनौतियां

□रविन्द्र गासो

डा. ओम प्रकाश ग्रेवाल अध्ययन संस्थान कुरुक्षेत्र द्वारा 25 जून 2017 को डा. ग्रेवाल स्मृति व्याख्यान-8 करवाया गया। इसमें वक्ता थे डा. के.एल. टुटेजा, प्रसिद्ध इतिहासकार, पूर्व प्रोफैसर इतिहास विभाग कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र। अध्यक्ष-मंडल में संस्थान-अध्यक्ष सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो. टी.आर. कुंडू, श्रीमती उर्मिल ग्रेवाल, दयाल सिंह कालेज करनाल के पूर्व प्रोफेसर वी.बी. अबरोल, सुप्रसिद्ध कवि-चिंतक एम.डी.यू. रोहतक के पूर्व प्रोफेसर मनमोहन। मंच संचालन प्रो. राम कुमार ने किया।

प्रो. टुटेजा ने सबसे पहले डा. ग्रेवाल से अपनी स्मृति को सांझा किया। विषय-प्रवर्त्तन करते हुए उन्होंने कहा कि भारत में राष्ट्रवाद का बेहतरीन स्वरूप हमें 1942 के भारत-छोड़ो आंदोलन, बंगाल विभाजन और 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में मिलता है। पार्था चटर्जी, विपिन चंद्र, महात्मा गांधी, रविन्द्र नाथ टैगोर, जवाहर लाल नेहरू के विभिन्न उद्धरण और उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा कि ब्रिटिश काल के दौरान राष्ट्रवाद का विकास कई मायनों में महत्वपूर्ण है। जैसा कि विपिन चंद्रा ने कहा कि ब्रिटिश शासक हमारे प्रतिनिधि नहीं थे क्योंकि उनसे हमारे विरोधाभास थे। हमारी भाषाओं में राष्ट्रवाद का इतिहास बखूबी आया है। मौजूदा दौर पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा कि आजादी से पहले अंग्रेजों का साथ देने वालों के लिए 'राष्ट्र विरोधी' शब्द का इस्तेमाल किया जाता था। अब सरकार के आलोचकों को ही राष्ट्र विरोधी कहा जा रहा है। आजादी की लड़ाई में आम जनता के अन्तर्मन में राष्ट्रवाद विकसित हुआ। गांधी जी ने जैसे कहा कि सभी धर्मों से मिलकर राष्ट्र बना है। टैगोर ने 1902 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री आफ इंडिया' में कहा था कि 'विभिन्नताएं भारतीय राष्ट्र की शक्ति हैं।' नेहरू ने 'भारत एक खोज' में भारतीय राष्ट्रवाद की तमाम खूबियों को प्रकाशित किया है।

मनमोहन ने कहा कि चालाकी और धूर्तता से आम जनता की विरोधी शक्तियां राष्ट्रवाद को रणक्षेत्र बना रही हैं। पर्दे पर कुछ और पर्दे के पीछे और चल रहा है। साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रवाद उर्वरक था। उसमें सपने थे। 1990 के दशक में औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई। इजारेदार-गुण्डा पूंजी और साम्प्रदायिक संगठन नागरिक समाज के सपने को ध्वस्त करने पर लगे हैं। एनलाईटन्ड वर्ग को देशद्रोही घोषित करने में मीडिया-न्यायपालिका-पुलिस सब लगे हैं। भीड़ों को उकसा कर हत्या और घृणा का माहौल बनाया जा रहा है। संविधान बदलने की तैयारी चल रही है। उन्होंने कहा कि जो देश से प्यार करता है वही सफाई दे रहा है। उन्होंने कहा कि राष्ट्र कोई जमीन का टुकड़ा नहीं है। जैसे साम्प्रदायिक शक्तियां कश्मीर को जमीन का टुकड़ा महज एक प्लाट समझती हैं।

प्रो. टी.आर. कुंडू ने कहा कि सामाजिक सम्बन्ध असल में सृजना है। संबंधों में गुणात्मकता, समानता और मैत्री से आती है। झूठ, धोखाधड़ी, आक्रामकता, लालच, भय नहीं चलता संबंधों में। ऐसा करने वाले वास्तव में राष्ट्रविरोधी हैं। हमें बांटने वालों से सावधान रहना चाहिए।

वी.बी. अबरोल ने कहा कि 15 अगस्त 1947 को यह तय किया गया था कि हर आंख के आंसू पोंछे जाएंगे, लेकिन आज जनता बेहाल है।

इंद्र सिंगला ने कहा कि आज हमारे युवाओं को नवीनतम शिक्षा और तकनीक-सकारात्मक वातावरण नहीं मिल रहा। आर्थिक क्षेत्र में डिप्रेशन की स्थिति है। संवैधानिक संस्थाओं को कमजोर करना देश विरोधी कार्य है।

प्रो. हेमराज शर्मा ने डा. ग्रेवाल की स्मृतियों को सांझा करते हुए बताया कि उन्होंने देश विभाजन पर मुझे समझाया था कि साम्प्रदायिकता के घोड़े पर सवार तो हुआ जा सकता है, उतरा नहीं जा सकता।

डा. रविन्द्र गासो ने कहा कि जो शक्तियां जनता को शिक्षा-रोजगार-बुनियादी जरूरतों से वंचित करती हैं, वे देशद्रोही हैं। खासकर आज का कार्पोरेट मीडिया जनद्रोही है। हमें हिस्ट्री और मिथ के अंतर को समझना पड़ेगा। डा. अशोक चौहान ने कहा कि वर्तमान का राष्ट्रवाद वास्तव में राष्ट्रवाद नहीं है ही नहीं, यह तो पूंजीवाद है।

डा. कृष्ण कुमार ने राष्ट्र के बीच संघर्षमय जीवन जीने वाले आम नागरिकों को राष्ट्र-देश का हिस्सा समझने की बात कही और बहस को जीवंत बनाया।

कार्यक्रम के प्रारंभ में महासचिव डा. करूणेश ने संस्थान के उद्दश्यों व कार्यक्रमों का विस्तार से जिक्र करते हुए कहा कि संस्थान का उद्देश्य सामाजिक मुद्दों पर चर्चा और समझ को आगे बढ़ाते हुए साहित्यिक विमर्शों पर सतत् बातचीत का माहौल बनाना हे। संस्थान लगातार युवा रचनाकारों के साथ इन्हें सांझा करता है। इस अवसर पर डा. ग्रेवाल परिवार के सदस्यों के अलावा अनेक शिक्षाविद्, गणमान्य नागरिक, शोधार्थी, विश्वविद्यालय कर्मी, समाज सेवी मौजूद रहे। कार्यक्रम विचारोत्तेजक तथा सार्थक रहा, चूंकि इसमें महत्वपूर्ण सवाल उठे।

सम्पर्क-9416110679

•

औलख वरगा ना कोई होर,
औलख साडा बाबा बोहड़

प्रो.अजमेर सिंह औलख को विलक्षण श्रद्धांजलि

▢बूटा सिंह सिरसा

कला सिर्फ कला के लिए ही नहीं होती, बल्कि सच्चा कलाकार समाज के मेहनतकश लोगों की जिन्दगी को अपने साहित्य का हिस्सा बनाता है। जनता के लिए लिखने जनता के बीच में ही विचरने वाले एक साहित्यकार थे पंजाब के मालवा क्षेत्र के शहर मानसा के निवासी व पंजाबी के प्रसिद्ध नाटककार प्रो. अजमेर सिंह औलख। जिनका कैंसर जैसी नामुराद बीमारी से लड़ते हुए 15 जून की सुबह को निधन हो गया।

अजमेर सिंह औलख का जन्म मानसा जिला के गाँव किशनगढ़ फरवाही में 19 अगस्त 1942 को एक किसान परिवार में हुआ। किशनगढ़ फरवाही जागीरदारों का गाँव था व धनी जागीरदारों के किसानों पर अत्यचारों का औलख के मन पर बहुत प्रभाव पड़ा। गाँव के स्कूल से प्राईमरी, भीखी से दसवीं करने के बाद उन्होंने पंजाबी यूनिवर्सिटी पटियाला से एम.ए. की।

वे 1965 से 2000 तक नेहरु मेमोरियल कालेज मानसा में पंजाबी के लेक्चरार रहे। कालेज में अध्यापन के दौरान ही प्रो. अजमेर औलख नाटककार, निर्देशक व रंगकर्मी बने। उन्होंने 1976 में लोक कला मंच मानसा की स्थापना की व अपनी पत्नी मनजीत औलख व तीनों बेटियों को इस नाटक टीम का हिस्सा बनाया।

अपनी शादी के समय उन्होंने दाज-दहेज लेने व बहुत ज्यादा बारात लेकर जाने व बहुत अधिक खर्च करने की परम्पराओं को तोड़ते हुए बिलकुल सादगी से शादी की।

छोटे किसानों के जीवन की समस्याएं उनके जीवन का हिस्सा रहीं थी इसलिए अपने नाटकों में उन्होंने इन समस्याओं को उठाया।'सत्त बेगाने','केहर सिंह दी मौत' , 'इक्क सी दरिया' ,'सलवान', 'झनां दे पानी', 'निओं जड़' आदि पूरे नाटक लिखे व 'मिर्जे दी मौत','अन्ने निशानची', 'अपना अपना हिस्सा' , 'इश्क बाझ नमाज़ दा हज्ज नाही' आदि एकांकी लिखे इसके अतिरिक्त 'बेगाने बोहड़ दी छां', 'इक्क रामायण होर', 'अवेसले युद्धां दी नायिका', 'तुड़ी वाला कोठा' आदि एकांकी नाटक लिखे।

प्रो. अजमेर सिंह औलख ने नाटक लिखे ही नहीं बल्कि उनका मंचन भी उनकी अपनी नाटक टीम द्वारा किया गया। उन्होंने अपने नाटकों का मंचन पंजाब हरियाणा के गांवों की चौपालों, विश्वविद्यालयों के ऑडीटोरियमों व चंडीगढ़ तथा दिल्ली जैसे अनेक शहरों में किया। उनके नाटकों के पात्र मालवा क्षेत्र के छोटे किसान, मजदूर व उनके साहूकार होते थे। उनके जीवन की छोटी खुशियों , समस्याओं बहुत ही सजीव चित्रण होता था इसलिए लोग नाटकों के साथ मानसिक तौर पर जुड़ जाते थे। उनके नाटक 'बेगाने बोहड़ दी छां' को तो लोग कभी भी नहीं भूल सकते। इस नाटक का सैंकड़ों बार मंचन हुआ। छोटे किसानों के जीवन की समस्याएं व दु:ख सभी प्रदेशों व सभी देशों के किसानों की ही एक जैसी हैं। मालवा का सीमान्त किसान व उसके जीवन की समस्याएं मात्र एक प्रतीक हैं वैसे यह मजदूर, किसान छोटे व्यापारी व नौकरी पेशा सभी का दर्द है।

प्रो औलख ने अपनी जिन्दगी के 75 वर्षों में से 50 वर्ष नाटक व रंगमंच को समर्पित किये। दिन रात दूर दराज के गांवों में नाटकों के मंचन हेतु जाते थे। वे अपने नाटकों में अभिनय करते समय बहुत ही कठोर व ऊँची आवाज में बोलते थे लेकिन अपने निजी जीवन में बिलकुल सहज व शांत व्यक्तित्व था उनका।

प्रो. औलख 2008 से कैंसर से पीड़ित थे लेकिन इसके वाबजूद भी उन्होंने अपने नाटक लेखन व उनके मंचन का कार्य निरंतर जारी रखा था। कैंसर के साथ लड़ाई के साथ साथ अपने नाटकों के माध्यम से सरकार की नीतियों के विरुद्ध संघर्ष भी जारी रखा। अंत में रीढ़ की हड्डी तक पहुंचे कैंसर के असहनीय दर्द के वाबजूद भी वे मिलने वाले के साथ अपने दर्द की बजाय लोगों के दु:ख दर्द की बातें करते, साहित्य व नए नाटक की बात करते।

प्रो औलख का अंतिम संस्कार 16 जून को किया गया। सुबह से ही पंजाब के कोने-कोने से सैंकड़ों किसानों मजदूरों व औरतों के काफिले आ रहे थे। उनकी अंतिम यात्रा में पंजाब, हरियाणा चंडीगढ़ के साहित्यकार, नाटककार, रंगकर्मी, प्रोफेसर, अध्यापक, जनवादी संगठनों के पदाधिकारी व हजारों की गिनती में किसान व मजदूर शामिल थे। मेहनतकश लोग नम आँखों के साथ बंद मुट्ठियाँ लहराते हुए बुलंद आवाज के साथ नारे लगा रहे थे 'प्रो अजमेर सिंह औलख अमर रहे।' 'औलख तेरी सोच ते पहरा दियांगे ठोक के', 'लोगों का कलाकार जिंदाबाद'। लोगों का यह काफिला बड़े अनुशासित तरीके से नारे लगाते हुए शमशान घाट तक पहुंचा। प्रो औलख की अंतिम इच्छा (जो उन्होंने 29 नवम्बर 2013 को ही लिख दी थी) के अनुसार उनकी तीनों बेटियों ने उनकी चिता को अग्नि दी। प्रो औलख साहिब जिन्दगी भर दकियानूसी परम्पराओं को तोड़ते रहे और अपनी अंतिम इच्छा में भी उन्होंने नया रास्ता दिखाया।

प्रो. अजमेर सिंह औलख की अंतिम इच्छा के अनुसार उनकी श्रद्धांजलि सभा बिना किसी धार्मिक रीति रिवाज के व बिना किसी राजनेता को मंच पर बुलाए 25 जून को अनाज मंडी मानसा में की गयी। इस श्रद्धांजलि सभा में साहित्यकारों नाटक मंडलियों अध्यापकों व बुद्धिजीवियों के अतिरिक्त मालवा क्षेत्र के गांवों से बहुत बड़ी संख्या में मजदूर किसान पहुंचे। दस हजार से ज्यादा लोग भीषण गर्मी की परवाह किये बगैर श्रद्धांजलि सभा में पहुंचे। गाँव के किसान किसान यूनियन एकता के आह्वान पर आपने गांवों से बड़ी मात्रा में लंगर बनाकर लेकर आये थे व बड़े आदर सत्कार तथा नम्रता से सभी को लंगर छका

रहे थे। सभी गांवों से अलग अलग प्रकार का लंगर बनाकर लेकर आये थे लोग। किसी गाँव से हलवा किसी से मीठे चावल किसी से रोटी सब्जी। किसान मजदूर अपने ट्रैक्टर ट्रालियों पर आ रहे थे। सभी जत्थे किसी के दूध के भरे बड़े ड्रम थे चाय बनाने के। किसी के पास ठंडे पानी की छबील लगाने का सामान। सभी अपने प्रिय नाटककार को अपने तरीके से विदा करना चाहते थे।

एक किसान जो श्रद्धांजलि सभा में आये लोगों को मीठे चावल खिला रहा था कहने लगा 'बापू नूं मिट्ठा मुंह करके विदा करांगे'। गाँव के इन मजदूर किसानों को देखकर लगा कि ये तो सारे औलख के नाटकों के पात्र है गज्जन सिंह, गुरनाम कौर, गेला, सीतो, पीता अमली, दौला व बिन्द्र आदि हजारों की संख्या में। श्रद्धांजलि मंच से केवल साहित्यकारों, कलाकारों को ही बात करने का मौका दिया गया किसी राजनेता को नहीं। पीपल्स आर्ट थियेटर पटियाला के कलाकारों द्वारा पेश किये संगीत नाटक 'औलख वरगा ना कोई होर, औलख साडा बाबा बोहड़' ने सभी उपस्थित लोगों को भावुक कर दिया। मंच से सुरजीत पातर, डाक्टर आत्मजीत, गुरबचन सिंह भुल्लर, केंद्रीय पंजाबी लेखक सभा के प्रधान डाक्टर सरबजीत सिंह, प्रो अछरु सिंह ने प्रो. औलख को श्रद्धांजलि दी तथा उनके विचारों को आगे ले जाने के लिए सामूहिक प्रयास करने को जरूरी बताया।

चेतना कला केंद्र बरनाला व लोक कला मंच मानसा की नाटक मंडलियों ने संयुक्त रूप से कोरियोग्राफी 'पा गलवक्कड़ी कलम कला संग्रामा दी, जीह्दे सीने धमक है लोक तूफानां दी' पेश की गयी तथा इस कोरियोग्राफी में प्रो. औलख की तीनों बेटियों ने भी भाग लिया। इस दृश्य को देखकर सभी उपस्थित लोगों की आँखें नम हो गयी। उनकी बड़ी बेटी सुपनदीप ने ऐलान किया वे अपने पिता के मिशन को पूरा करने के लिए लोक कला मंच मानसा के झंडे को बुलंद रखेंगी। प्रो अजमेर सिंह औलख के दामाद सुभाष बिट्टू ने सभी का धन्यवाद किया। मंच संचालन डाक्टर हरविन्द्र सिरसा व जसपाल मानखेड़ा ने किया। जो कलाकार मेहनतकश जनता की पीड़ा को वाणी देता है जनता उसे अपना नायक बना लेती है।

बढ़ते कदम

कल्पित तुझे सलाम

▫गुरबख्श सिंह मोंगा

अनुसूचित जाति के कल्पित वीरवाल द्वारा आई.आई.टी. की प्रवेश परीक्षा में सौ फीसदी अंक लाना बताता है कि प्रतिभा किसी जाति विशेष की जागीर नहीं है। सी.बी.एस.ई. द्वारा आयोजित आई.आई.टी- जे.ई.ई. मेन्स कि परीक्षा में 10 लाख 20 हजार विद्यार्थियों को पछाड़ते हुए राजस्थान के 17 वर्षीय दलित छात्र कल्पित वीरवाल ने 360 में से 360 अंक प्राप्त कर इतिहास रच दिया। सी.बी.एस.ई. के अध्यक्ष आर. के. चतुर्वेदी ने कल्पित को फोन पर निजी रूप से बधाई दी। कल्पित ने सामान्य श्रेणी व अनुसूचित जाति दोनों में अखिल भारतीय स्तर पर टॉपर होने का श्रेय प्राप्त किया जिससे लेकसिटी का एवं उसके परिवार का नाम रोशन हुआ है।

कल्पित के पिता पुष्कर लाल वीरवाल उदयपुर के महाराणा भूपल सरकारी अस्पताल में कपांउडर हैं व मां पुष्पा वीरवाल सरकारी स्कूल में शिक्षक हैं। उनके बड़े भाई भी देश के सबसे प्रतिष्ठित माने जाने वाले मेडिकल संस्थान ऐम्स में मेडिकल की पढाई कर रहे हैं।

आजादी के बाद से ही देश की सभी केंद्रीय नौकरियों में अनुसूचित जाति और जनजाति के लिए 22.5 प्रतिशत आरक्षण है। पूरी नौकरी के दौरान सामान्य जाति के लोग इन्हें अच्छी नजर से नहीं देखते और मानकर चलते हैं कि उन्हें जो नौकरी मिली हैं वह उनकी योग्यता अथवा काबिलियत के बूते नहीं बल्कि आरक्षण से मिली है। यही कारण रहा कि आई.आई.टी. और मेडिकल जैसी सेवाओं में इनका अनुपात कहीं कम था। जब आई.आई.टी. और मेडिकल की पढ़ाई में अनुसूचित जाति और जनजाति को आरक्षण देने का फैसला किया गया था तब वे किसी तरह चयनित तो हो जाते थे मगर वहां के माहौल और पढ़ाई की निरंतरता से उनका दम घुटने लगता था। ऐसे माहौल में कई तो ऊब कर पढाई छोड़ देते थे। रूड़की व कानपुर आई.आई.टी. में कई अनुसूचित जाति के छात्रों ने आजिज आकर आत्महत्याएं कर ली थी। 1980 का दशक ऐसी आत्महत्याओं का गवाह है। ये सिलसिला आज तक जारी है।

सुप्रसिद्ध साहित्कार और कानपुर आई.आई.टी. में कुलसचिव रह चुके गिरिराज किशोर शायद वह पहले लेखक थे, जिन्होंनें इन विद्रूपताओं को पकड़ा और एक उपन्यास 'परिशिष्ट' लिखा। 'परिशिष्ट' के बारे में गिरिराज किशोर का कथन छपा था, अनुसूचित कोई जाति नहीं, मानसिकता है। जिसे आभिजात्य वर्ग परे ढकेल देता है, वह अनुसूचित हो जाता है। अपने बहुचर्चित उपन्यास यथा प्रस्तावित में भी गिरिराज किशोर ने इसी वर्ग की दारूण पीडा़ को चित्रित किया था। उपन्यास से पता चलता है कि लेखक उस सबका अन्तरंग साक्षी है। अपनी मुक्ति की लड़ाई लड़ने वाला हर पात्र एक ऐसे दबाव में जीने के लिए मजबूर है जो या तो उसे मर जाने के लिए बाध्य करता है या फिर संघर्ष को तेज कर देने की प्रेरणा देता है।

गिरिराज बताते हैं कि जब 1983 में यह उपन्यास आया तो आई.आई.टी. कानपुर में हंगामा मच गया था और उन्हें निलंबित कर दिया गया था। एक अनुसूचित जाति के छात्र द्वारा यह परीक्षा टॉप करने का यह अर्थ तो निकाला ही जाना चाहिए कि एक युग पहले गिरिराज किशोर ने कुलसचिव होने के नाते आई.आई.टी. में अनुसूचित जाति के छात्रों पर पड़ने वाले मानसिक दबाव को रोकने की जो पहल की थी वह अब सफल हुई।

अनुसूचित जाति के संगीत, क्रिकेट और बैंडमिटंन के शौकीन, वीरवाल सी.एस.ई. के लिए आई.आई.टी.मुम्बई जाना चाहता है। कल्पित की मेहनत को साधुवाद दुष्यंत कुमार के शब्दों में:

कौन कहता है आकाश में सुराख नहीं हो सकता
एक पत्थर तो तबीयत से उछालो यारो

सम्पर्क-9996684988

पंचकूला से मेलबॉर्न

□सुरेन्द्रपाल सिंह

थेम्स नदी में कितने ही समुद्री जहाज एक ही स्थान पर खड़े हैं और उनमें सज़ायाफ्ता कैदियों को रखा जाता है। स्थिति यहाँ तक पहुंच चुकी है कि इन जहाजों से उठने वाली बदबू आसपास के वातावरण को दूषित करने लगती है। आखिरकार, वर्ष 1779 में इंग्लैंड की संसद इन कैदियों को अफ्रीका के पश्चिमी तट और न्यूजीलैंड जैसे दूर दराज इलाकों में भेजने के बारे में विचार करने के लिए एक कमेटी का गठन करती है। कुछ वर्षों के बाद 1786 में एक ऐसे ही जहाज में कैदी बगावत कर देते हैं। अंततः इंग्लैंड के गृह सचिव लार्ड सिडनी ब्रिटिश खजाने से ऑस्ट्रेलिया महाद्वीप में बोटनी बे नामक स्थान पर सम्राट जॉर्ज तृतीय के नाम से उपनिवेश बनाए जाने की तैयारी करने का आग्रह करते हैं। और इस प्रकार कैप्टेन आर्थर फिलिप के नेतृत्व में 11 जहाजों का एक बेड़ा 8 महीने में करीब 25000 किलोमीटर की तकलीफ भरी समुद्री यात्रा नाविकों, सिपाहियों और 192 महिलाओं सहित 778 कैदियों को लेकर कुल 1000 लोग 17 जनवरी 1788 को उस स्थान पर पहुँचते हैं जिसे आज सिडनी कोय कहा जाता है। कुछ दिनों के बाद 26 जनवरी को वहाँ इंग्लैंड का राष्ट्रीय ध्वज फहराया जाता है और तभी से 26 जनवरी के दिन को ऑस्ट्रेलिया दिवस के रूप में मनाया जाता है।

हमारे देश के क्षेत्रफल 32.87 लाख वर्ग किलोमीटर के मुकाबले ऑस्ट्रेलिया का कुल रकबा 76.92 लाख वर्ग किलोमीटर है। हमारी 131 करोड़ जनसंख्या की तुलना में वहां की आबादी 2.45 करोड़ है। धर्म के आधार पर ऑस्ट्रेलिया में ईसाई 61.1, बौद्ध 2.5, मुस्लिम 2.2, हिन्दू 1.3, अन्य 1.2, अधार्मिक 22.3 व अस्पष्ट 9.4 फीसदी हैं। ये जानना महत्वपूर्ण है कि कुल जनसंख्या का 31.7 प्रतिशत हिस्सा वहाँ बिना किसी धार्मिक पहचान के जी रहा है।

हमारी बेटी ने पंचकूला निवासी एक बुजुर्ग विद्वान से सवाल किया क्या वे आस्ट्रेलिया आकर स्थायी तौर पर रहना चाहेंगे तो जवाब मिला - बिल्कुल नहीं क्योंकि ऑस्ट्रेलिया का कोई इतिहास नहीं है। खैर ऐसे देश में जून महीने में जाकर रहने का मौका मिला जिसके इतिहास का जिक्र ऊपर किया जा चुका है। इस दौरान के अनुभव साझा करने का एक प्रयास इस आलेख के माध्यम से किया जा रहा है।

सिडनी पहुंचने के बाद पहले ही दिन घूमने के लिए डार्लिंग हार्बर जाना हुआ। किश्तियां, स्टीमर, छोटे जहाज, कैप्टेन जेम्स कुक के जहाज का मॉडल, समुद्री संग्रहालय, साफ सुथरा पानी, चकाचक चमकते हुए किनारों के दोनों तरफ सैकड़ों फूड स्टॉल पर हजारों की संख्या में भोजन और ड्रिंक का आनंद लेते हुए महिला और पुरुष आदि पूरे वातावरण को रंगीन बनाए हुए थे। लेकिन कई हज़ार औरतों का दिन के वक्त खुले आम शराब पीना किसी को भी हैरान नहीं कर रहा था। सब कुछ सहज और इत्मीनान से चल रहा था। कुछ दिनों में ये बात ठीक तरह समझ में आ गई कि लिंग के आधार पर वहाँ महिलाओं में किसी प्रकार की ना तो कोई असुरक्षा की भावना है और ना ही कोई हीनग्रंथि। बच्चों और बुजुर्गों के लिए विशेष सरोकार ट्रेन में, बस में, मार्केट में और कहीं भी स्पष्ट दिखाई देता है।

सिडनी में मेरी पत्नी ने एक स्टोर से कुछ सामान खरीदा तो बाहर आकर हमारी बेटी ने अपनी मां के व्यवहार के बारे शिकायत की। बेटी का कहना था कि उसकी माँ ने दुकानदार से कुछ मांगते हुए प्लीज और थैंक्स का प्रयोग नहीं किया और ऐसा करना अगले व्यक्ति का अपमान माना जाता है। अनुभव में भी ये देखने में आया कि जब सवारी बस से उतरती है तो आमतौर पर ड्राइवर को थैंक्यू कहती हैं। वैसे वहां बसों में कन्डक्टर नहीं होता। ट्रेन, स्टीमर, बस सभी जगह एक ही कार्ड स्वाइप करके यात्रा हो जाती है। इसी प्रकार किसी भी ऑफिस या कार्यस्थल पर कोई कितना भी सीनियर हो वह अपने मातहत कर्मचारी को काम करने के लिए ऑर्डर नहीं कर सकता। उसके लिए प्लीज और थैंक्यू कहना जरूरी है। बात जब बड़े छोटे या ऊँचे नीचे की चल पड़ी है तो आप किसी भी प्रकार से किसी की ऊँची हैसियत का अंदाजा नहीं लगा सकते। वस्त्रों से, गाड़ी से, चाल ढाल से , घर की लोकेशन या साइज अथवा किसी भी अन्य प्रकार से किसी की उच्च हैसियत का अनुमान लगाना करीब करीब असंभव है।

किसी होटल या फ़ूड स्टॉल पर टेबल को साफ रखना या करना ग्राहक का ही फर्ज़ है और इस मामले में सभी लोगों का व्यवहार ईमानदारी से भरा होता है। इसी प्रकार घरों में नौकर या नौकरानी रखने का चलन नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी जिम्मेदारी है कि वे अपना खाना बनाए, वॉशिंग मशीन से कपड़े धोए और घर को साफ सुथरा रखे। एक महीने के दौरान एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं दिखाई दिया जो खुले में पेशाब कर रहा हो। साफ सुथरे शौचालयों की व्यवस्था हर जगह है।

सड़कों पर यातायात का अनुशासन देखते ही बनता है। पैदल व्यक्ति के सड़क क्रॉस करने के लिए व्यस्त इलाकों में लाइट सिग्नल्स की व्यवस्था है और बाकी सभी जगह सड़क पर निशान बने हैं। जब पैदल व्यक्ति निशान वाले स्थान से सड़क क्रॉस करता है तो सारा ट्रैफिक रुक जाएगा। क्रॉस करने का पहला हक़ पैदल व्यक्ति का है। स्कूटर, मोटरसाइकिल जैसे दुपहिया वाहन सड़कों पर दिखाई नहीं देते। पैदल चलने वालों के लिए मुख्य सड़क के साथ-साथ अलग से फुटपाथ बने हैं। सड़क दुर्घटनाएं ना के बराबर हैं। हमारे देश में करीब डेढ़ लाख सालाना मौतों के मुकाबले ऑस्टेलिया में सड़क दुर्घटनाओं में मरने वालों की संख्या लगभग डेढ़ हजार है। मेलबॉर्न से सिडनी तक के लगभग 900 किलोमीटर के सड़क मार्ग पर पूरे रास्ते हमें कोई चौरास्ता, ट्रैफिक लाइट,

ट्रैफिक पुलिस, बैरियर, स्पीड ब्रेकर आदि नहीं मिला और ना ही हॉर्न की 'मधुर' ध्वनि सुनाई दी। जगह जगह पर रेस्ट रूम और सर्विस सेन्टर की व्यवस्था देखने को मिली।

कमर्शियल इलाकों को छोड़कर पूरे ऑस्ट्रेलिया में दूर दराज तक फैले सबर्ब बने हैं जहां अधिकतम घर टिन की ढलवां छत वाले विला के रूप में हैं। मेन गेट पर आमतौर पर फाटक नहीं होते। साइड में लॉन और सामने गैराज दिखाई देते हैं। अवारा पशु नहीं हैं इसलिए लॉन के घास, पौधों, फूलों को कोई खतरा नहीं हैं। धूल बिल्कुल नहीं होती। बाजार 6 बजे बन्द हो जाता है केवल कुछ मॉल और फ़ूड पॉइंट्स को छोड़ कर। दुकानों पर शटर नहीं होते। शीशे के दरवाजे बंद किये जाते हैं और अंदर एक दो लाइट जलती हुई छोड़ दी जाती है। ऐसे में रात को भी यूं लगता है कि बाजार खुला ही है। इतनी जल्दी बाजार बन्द होने का तर्क ये बताया गया कि 8 घंटे से अधिक काम करना यहां सख्ती से बंद है। फुरसत के क्षण अपने परिवार के साथ बिताने को प्रोत्साहित किया जाता है। ये बात तमाम कार्यस्थलों पर लागू है।

ड्रेस के मामले में यहाँ रंग बिरंगे परिधानों का प्रचलन नहीं है। काला रंग सर्वव्यापक है चाहे वो जैकेट हो या ओवरकोट। जीन्स और ट्राउजर का प्रयोग सभी करते हैं महिला हो या पुरुष। वस्त्रों के आधार पर किसी के रुतबे का अंदाजा नहीं लगाया जा सकता। लड़कियों में फैशन के नाम पर सबसे अधिक लोकप्रिय घुटनों से घिसी हुई जीन्स होती है। मजे की बात है कि बाजार में घिसी हुई जीन्स ज्यादा मंहगी मिलती है। वस्त्रों और व्यवहार के मामले में सार्वजनिक स्थलों पर फूहड़पन या अश्लीलता ना के बराबर है। भीड़ वाले स्थान में अगर गलती से कोई किसी को छू जाता है तो तपाक से मुआफ़ी मांगी जाती है।

जिसे हमारे यहां छोटा काम कहा जाता है वहाँ उन कामों के लिए पर्याप्त आमदनी होती है और श्रम का पूरा सम्मान होता है। उदाहरण के तौर पर मेलबॉर्न पहुँचने पर मेरे एक फेसबुक मित्र हरमनदीप सिंह खालसा ने हमें एयरपोर्ट से पिक अप किया और अपने घर ले गया। हरमनदीप सिंह के पास वहां चार बैडरूम वाला घर और दो कारें थी। पंजाब में अपने गाँव मे वो एक बड़ा सा घर बनवा रहा है। पेशे के तौर पर वह घरों में रंग रोगन का काम करता है। एक दूसरे मित्र ने बताया कि एक पेंटर की आमदनी एक डॉक्टर से कम नहीं होती। लेकिन ये भी आवश्यक है कि हर व्यक्ति काम करे। रिटायरमेंट की उम्र 65 साल है।

स्कूलों में बच्चे टीचर को सर या मैडम कहने की बजाए नाम से पुकारते हैं। जब स्कूल की छुट्टी होती है तो सारे टीचर गेट तक बच्चों को विदा करने आते हैं।

आधुनिक ऑस्ट्रेलिया की चर्चा करते हुए भूतकाल में इसके विकास का जिक्र आना जरूरी लगता है। 1788 से लेकर 1792 तक कैदियों की सँख्या 768 औरतों सहित 4312 हो गई थी। कालांतर में आने वाले 80 सालों में 1,60,000 से अधिक कैदियों को इंग्लैंड, आयरलैंड, स्कॉटलैंड, वेल्स आदि देशों द्वारा ऑस्ट्रेलिया में भेजा गया। ये कैदी सजा की अवधि के दौरान अधिकारियों की मर्जी के अनुसार मेहनत करते थे और सजा पूरी होने के बाद वहीं पर फ्री सेटलर की तरह से जीते और काम धंधा करते थे।

आज आस्ट्रेलिया मूल के करीब बीस प्रतिशत व्यक्ति इन्हीं सज़ा याफ्ता कैदियों की पुश्तें हैं जिनमें से कितने ही लोग अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हैं। इस प्रकार 1788 से शुरू हुआ उपनिवेशवाद का सिलसिला बढ़ते बढ़ते 1859 तक पूरे ऑस्टेलिया महाद्वीप में फैल गया। 6 राज्यों की फेडरेशन ने 1 जनवरी 1901 को एक कॉमनवेल्थ का रूप ले लिया। ये माना जाता है कि सन 1788 में ऑस्ट्रेलिया में एक अनुमान के अनुसार 3 से 7 लाख वनवासी थे जिन्होंने अभी खेती करना भी नहीं सीखा था। 1789 में एक अजीबोगरीब बीमारी ने बहुत से वनवासियों की जिंदगी लील ली। ये बीमारी अभी तक एक रहस्य है। उन वनवासियों को अबोरजिन के नाम से जाना जाता है। मेरे व्यक्तिगत प्रयासों के बावजूद मुझे ना के बराबर अबोरजिन लोग दिखाई दिए। आजकल ऑस्ट्रेलिया सरकार ने नौकरियों में अबोरजिन लोगों के लिए दो प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान किया हुआ है और मानव संसाधन विभाग में काम करने वाली एक महिला अधिकारी ने बताया कि दो प्रतिशत का कोटा पूरी तरह भरा हुआ है और अभी सरकार इस कोटे को दो से दस प्रतिशत करने का विचार कर रही है। इसी संदर्भ में सन 1998 से लगातार 26 मई का दिन राष्ट्रीय सॉरी दिवस के रूप में मनाया जाता है जिस दिन अबोरजिन लोगों से उनके पूर्वजों के साथ की गई ज्यादतियों के बदले सार्वजनिक माफी मांगी जाती है। इस विषय पर अलग से विस्तार में प्रकाश डाला जा सकता है।

ऑस्ट्रेलिया विभिन्न जातीयताओं और राष्ट्रीयताओं का देश है। इसको समझने से पहले एक बार कुछ और आंकड़ों पर नजर डालना उचित रहेगा। यहां की जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा दूसरे देशों की राष्ट्रीयताओं वाला है जिनमें से 50 हज़ार से अधिक संख्या वाले 26 देशों से हैं जिनमे मुख्यत: इंग्लैंड, स्कॉटलैंड, आयरलैण्ड, चीन, भारत, पाकिस्तान, लेबनान, ईरान, इराक, जर्मनी, फिलीपींस, इंडोनेशिया, साउथ कोरिया, वियतनाम आदि हैं। लेकिन सभी राष्ट्रीयताओं के व्यक्तियों को समान और सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। रास्ते में कहीं भी पैदल चलते हुए सामने से आए हर उम्र की महिला/पुरुष का मुस्करा कर अभिनंदन करना आम बात है। अनेक बस्तियां ऐसी हैं जहां राष्ट्रीयता विशेष के परिवार बहुतायत में बस चुके हैं जैसे कि सिडनी के ब्लैक टाउन में पंजाबी, ऑबर्न में तुर्की और लेबनानी, ईस्टवुड में चीनी। सभी के अपने अपने धार्मिक स्थल भी हैं। लेकिन लाउडस्पीकर, जलूस, शोभा यात्रा आदि का प्रचलन शून्य है। बिना धार्मिक पहचान के या नास्तिक व्यक्तियों को अपने बारे में ऐसा बताने में कोई दुविधा महसूस नहीं होती।

मेलबॉर्न से सिडनी तक सड़क से यात्रा करते हुए देखा कि दोनों तरफ बड़े बड़े फार्म हैं जहां किसी में भेड़ें, किसी में गाय और किसी में घोड़े घास चरते हुए दिखाई देते हैं। घोड़ों का उपयोग रेस कोर्स व दूर दराज के फार्म में होता है लेकिन भेड़ (लैम्ब) और गाय (बीफ़) पूरे आस्ट्रेलिया में सबसे पसंदीदा भोजन है। फिश और चिकन की पसंद दूसरे नम्बर पर है। ड्रिंक में वहाँ सर्दी के बावजूद बियर पीना वैसा ही है जैसे हमारे यहाँ निम्बू पानी। सिडनी में हमारी बेटी के पास हम जिस

घर में रहे उसकी मालकिन एक चीनी महिला है। उस घर में एक ईरानी लड़की और एक आरएसएस की 20 साल के लिए डिक्टेटरशिप की वकालत करने वाला हिन्दू युवक भी है। इस प्रकार एक चीनी जो अभी चर्च से लगाव पैदा करने जा रही है, एक ईरानी मुसलमान, एक हिन्दू और हमारी नास्तिक बेटी एक ही घर में जहाँ साझी किचन है और ड्राइंग रूम भी एक है बिना किसी मनमुटाव के व एक दूसरे के खाने के बारे बिना नाक चढ़ाए रह रहे हैं।

अब एकबार फिर थोड़ा इतिहास की ओर मुड़ के देखा जाए। सन 1850 के आसपास गोल्ड रश की एक प्रक्रिया ऑस्ट्रेलिया में देखी गई। कितने ही स्थानों से सोना मिलने लगा। दूसरे देशों से किस्मत आजमाने वालों को तांता लग गया और धड़ाधड़ सोने की नई नई खान खोदी जाने लगी। उस वक्त करीब 40 हज़ार चीनी व्यक्ति गोल्ड फील्ड में आकर बस गए। छोटे छोटे नए कस्बे खुलने लग गए। आपसी नफरत और हिंसा का दौर चल पड़ा। अंतत: सरकार को व्हाइट ऑस्ट्रेलिया को बचाने के लिए प्रत्यापर्ण नीति को नियमित करने पड़ा। इसके बावजूद इस दौर में ऑस्ट्रेलिया की जनसंख्या 3 गुणा हो गई और नतीज़े के तौर पर आर्थिक और ढाँचागत गतिविधियों ने एकदम से गति पकड़ी। साथ ही साथ अपराध और लूटमार का सिलसिला जोर पकड़े लगा। धीरे धीरे आर्थिक मंदी के दौर से गुजरते हुए नए खनिजों और नेचुरल गैस की खोज के साथ आज संसाधनों से भरपूर आधुनिक ऑस्ट्रेलिया हमारे सामने है।

एक पूँजीवादी राष्ट्र की अपनी सीमाएँ भी होती हैं जो आर्थिक उतार चढ़ाव और उससे जुड़ी हुई गुत्थियों से रूबरू होती रहती हैं लेकिन समानता, एकता, आज़ादी, भाईचारा, सहिष्णुता जैसे मानवीय मूल्यों के आधार पर ऑस्ट्रेलिया का समाज आज के दिन अपनी पराकाष्ठा पर है जो हमारे लिए एक अनुकरणीय उदाहरण है।
इतने धर्मों, राष्ट्रीयताओं, रंग रूप, मान्यताओं से सम्बद्ध रखने वाले देश में एकता, अनुशासन, खुशहाली, समानता आदि के मूल्यों को संजोए हुए ऑस्ट्रेलियन समाज की गहराइयों को करीब एक महीने की अवधि में पूरी तरह समझना एक मुश्किल काम है।

सम्पर्क - 9872890401

इब्ने इंशा

कछुआ और खरगोश

एक था कछुआ, एक था खरगोश। दोनों ने आपस में दौड़ की शर्त लगाई। कोई कछुए से पूछे कि तूने शर्त क्यों लगाई? क्या सोचकर लगाई?

बहरहाल...तय यह हुआ कि दोनों में से जो नीम के टीले तक पहले पहुंचे, उसे अख्तियार है कि हारने वाले के कान काट ले।

दौड़ शुरू हुई तो कछुआ रह गया और खरगोश यह जा वह जा। मियां कछुवे वज़ादारी (परम्परागत) की चाल चलते रहे। कुछ दूर चलकर ख़्याल आया कि अब आराम करना चाहिए। बहुत चल लिए। आराम करते-करते नींद आ गई।

न जाने कितना जमाना सोते रहे। जब आंख खुली तो सुस्ती बाकी थी। बोले-'अभी क्या जल्दी है...इस खरगोश के बच्चे की क्या औकात है कि मुझ जैसे अजीम विरसे के मालिक से शर्त जीत सके। वाह भई वाह मेरे क्या कहने।'

काफी जमाना सुस्ता लिए, तो फिर मंजिल की तरफ चल पड़े। वहां पहुंचे तो खरगोश न था। बेहद खुश हुए। अपनी मुस्तैदी की दाद देने लगे। इतने में उनकी नजर खरगोश के एक पिल्ले पर पड़ी। उससे खरगोश के बारे में पूछने लगे।

खरगोश का बच्चा बोला-'जनाब! वह मेरे वालिद साहब थे। वह तो पांच मिनट बाद ही यहां पहुंच गए थे और मुद्दतों इंतजार करने के बाद मर गए और वसीयत कर गए कि कछुए मियां यहां आ जाएं तो उनके कान काट लेना। लिहाजा लाइए इधर कान...।'

कछुए ने फौरन ही अपने कान और अपनी सिर खोल के अंदर कर ली और आज तक छिपाए फिरता है।

प्यासा कौवा

एक प्यासे कौवे को एक जगह पानी का मटका पड़ा नजर आया। बेहद खुश हुआ, लेकिन यह देखकर मायूसी हुई कि पानी बहुत नीचे-सिर्फ मटके की तह में थोड़ा सा है। अब सवाल यह था कि पानी को किस तरह ऊपर लाए और अपनी चोंच तर करे।

इत्तेफाक से उसने हिकायते-लुकसान (लुकमान नामक प्रसिद्ध हकीम का बयान) पढ़ रखी थी। पास ही बहुत से कंकर पड़े थे, उसने एक-एक कंकर उसमें डालना शुरू किया। कंकर डालते-डालते सुबह से शाम हो गई। प्यासा तो था ही, निढाल हो गया।

मटके के अंदर नजर डाली तो क्या देखता है कि कंकर ही कंकर हैं, सारा पानी कंकरों ने पी लिया है। बेएख़्तियार उसकी जबान से निकला-'हत् तेरे लुकमान की।'

फिर बेसुध होकर जमीन पर गिर गया और मर गया।

अगर वह कौवा कहीं से एक नलकी ले आता तो मटके के मुंह पर बैठा-बैठा पानी को चूस लेता। अपने दिल की मुराद पाता, हरगिज जान से न जाता।

चिंतन के इन्द्रधनुषी रंगों से सजा काव्य

❑राधेश्याम भारतीय

आयुर्वेद एवं योगा में राष्ट्रीय पुरस्कार से सम्मानित डॉ मुकेश अग्रवाल जहां चिकित्सा के क्षेत्र में मुकाम हासिल कर रहे हैं, वहीं साहित्य में भी अपनी सशक्त उपस्थिति दर्ज करवा रहे हैं। इनका प्रथम काव्य-संग्रह 'सिर्फ एक मानव हूं मैं' इसका प्रमाण है। इस संग्रह में कवि ने बहुत खुबसूरती के साथ समाज के भी विविध रूपों को पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है। इस संग्रह की समस्त रचनाओं को पांच भागों में बांटा है जिनमें आत्म एवं व्यक्ति चिंतन, प्रेम एवं नारी चिन्तन, समाज एवं राष्ट्र चिन्तन ,प्रकृति एवं पर्व चिन्तन और विविध चिन्तन हैं। डॉ साहब के लिए काव्य सृजन लोक ख्याति अर्जित करने का माध्यम नहीं है बल्कि मनुष्य को चिन्तन-मनन, एवं संवेदनशील प्राणी के रूप में देखना ही उनका लक्ष्य है। उनका मानना है कि हम सब मानव हैं और मानव वही है जिसमें मानवीय गुण विद्यमान हों। जिनमें संकीर्ण सोच की जगह व्यापक सोच हो, जो विश्व बंधुत्व की भावना में विश्वास रखें।तभी उन्होंने लिखा है-

मै आकाश बनना चाहता हूं-कमरा नहीं
समुद्र बनना चाहता हूं -घड़ा नहीं।
मैं चाहता हूं -एक नई व्यवस्था,
एक नया समाज, एक नया आंगन।

कवि समाज की गली-सड़ी व्यवस्था में बदलाव चाहता है। वह एक समतावादी समाज देखना चाहता है, जिसमें सबको अपना जीवन स्वाभिमान के साथ जीने का अवसर मिले और और एक ऐसा आगंन हो जिसमें देश के युवाओं के सपनों को पर लगें, वे सफलता की बुलन्दियों को छुएं।

आत्म एवं व्यक्ति चिंतन में 'अधूरापन' कविता है जो यह अहसास करवाती है कि जब तक मनुष्य में अधूरापन है, तब तक हम सही मायने में मानव नहीं बन सकते। इस अधूरेपन से तभी छुटकारा पाया जा सकता है, जब मनुष्य भोग के स्थान पर त्याग की भावना को तवज्जो दे।

प्रेम और नारी चिन्तन में प्रेम और नारी के महत्व को रेखांकित किया गया है। इनमें डॉ साहब के कॉलेज समय की कविताएं हैं। ये कविताएं आज भी तरोताजा-सी जान पड़ती हैं। इन कविताओं को पढ़कर किसी को भी अपने कॉलेज के दिनों की याद आ सकती है। एक बानगी देखिए-

खूबसूरत हो तुम, भोली हो तुम।
प्यारी-प्यारी मिश्री की गोली हो तुम।

डॉ साहब ने नारी के विविध रूपों पर भी बहुत खूब लिखा है। चंद पंक्तियां मां को समर्पित हैं-

कभी मां बन के
अपनी ममता बरसाती हो तुम,
खुद भूखी रहकर
अपने बच्चे को रोटी खिलाती हो तुम।
सूखे में लिटाकर मुझे,
खुद गीले में लेट जाती हो तुम।।

डॉ साहब ने भारतीय संस्कृति को उसकी विशेषताओं के साथ उजागर किया है। कविता 'सांझा चुल्हा' इसका उत्कृष्ट उदाहरण जान पड़ता है-

सांझ में जब सांझा चुल्हा जलता है
बड़ी पतली की कढ़ाई में,
काठ का चम्मच हिलता है,
तो बन जाता है एक स्वादिष्ट मिश्रण
भावनाओं का।

इस भाग में नवनिर्माण, आज वतन के नाम पर, स्वस्थ चिंतन , तिरंगा हमें पुकार रहा है आदि कविताएं अपने ओजस्वी एवं प्रेरणादायी रूप के कारण जहां देशप्रेम की भावना का आविर्भाव करती हैं, वहीं युवाओं को नवसृजन के लिए भी प्रेरित करती हैं। कवि लिखता है-

शहीदों के सपनों को
पूरा कर दिखलाना है,
धर्म नीति पर चलकर हमको,
भारत को स्वर्ग बनाना है।

प्रकृति मनुष्य के जीवन का अंग है। इसके बिना मानव जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। प्रकृति अपने खजाने से बिना भेदभाव किए अपना सर्वस्व सभी पर लूटाती रहती है। और मनृष्य भी इस प्रकृति को जिस रूप में देखना चाहे उसी रूप में दिखाई पड़ती है। कवि ने हिमालय की अनुपम छटा को इन शब्दों में बांधने का प्रयास किया है।

प्रकृति की अद्‌भुत छटा है,
दूधिया बर्फकी चादर से,
ढका हिमालय है।
कतारों में पेड़ चिनार के
कुछ यूं लहरा रहे हैं
जैसे किसी चित्रकार ने
कुची से चित्र उकेरा है।

विविध चिंतन में कवि ने आयुर्वेद की महिमा का गुणगान किया। उन्होंने कविता 'दिनकर' में परम श्रद्धेय दिनेश जी के प्रति भी अपने मन के उद्‌गार व्यक्त किए हैं।

आज का नौजवान, आओ मर्द बन जाएं, दुग्ध पान जैसी कविताएं मनुष्य को चिंता एवं चिंतन को बाध्य करती हैं।

इस काव्य संग्रह में भाषा शैली की बात करें तो अलंकार, भावानुरूप स्वयं ही आते गए हैं। अभिधा शक्ति के साथ-साथ लक्षणा एवं व्यंजना के भी दर्शन होते हैं।

अंत में इतना कहा जा सकता है कि इस संग्रह की कविताएं एक स्वस्थ, चिंतनशील, मानवीय मूल्यों से ओतप्रोत समाज बनाने में सहायक सिद्ध होंगी। और यह संग्रह साहित्य जगत में अपना विशेष स्थान बनायेगा इसी आशा और विश्वास के साथ डॉ साहब को हार्दिक बधाई।

पुस्तक - सिर्फ एक मानव हूं मैं
रचनाकार - डॉ. मुकेश अग्रवाल
प्रकाशक - अनुज्ञा बुक्स शाहदरा दिल्ली

सम्पर्क - 9315382236

वे पन्ने

□राजेश कुमार

पूरन मुद्गल हिन्दी के पाठकों के लिए एक जाना-पहचाना नाम है। 'वे पन्ने' इनकी नवीनतम पुस्तक है, जिसमें विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छपे लेख संग्रहित हैं। यह किताब चार खंडों में विभक्त है। पहले खंड में तीन लेख स्थानों की रोचक जानकारी प्रस्तुत करते हैं। पहले लेख में फिरोजशाह तुगलक द्वारा गूजरी लड़की के प्रेम से प्रेरित होकर हिसार शहर बसाने की कहानी है। दूसरे लेख में सिरसा का पौराणिक ऐतिहासिक व सांस्कृतिक विवरण है। वहीं तीसरे लेख में सिरसा जिले के जीवन नगर व अम्बाला गांव के हंगोला का वर्णन है।

किताब का दूसरा भाग है-व्यक्ति खंड। इसमें विभिन्न महापुरुषों के साहित्यिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, सामाजिक योगदान का जिक्र है। साहित्यिक-कर्मियों में -उपन्यास सम्राट प्रेम चंद, केदारनाथ अग्रवाल, पंजाबी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार गुरदयाल सिंह, हरियाणा के प्रथम राज्य कवि उदयभानु हंस, कहानीकार व फिल्म निर्माता ख्वाजा अहमद अब्बास, चंद्रकांत बाली, लीलाधर दु:खी, गोविन्द शर्मा व प्रगतिशील लेखक एवं मार्क्सवादी विचारक हंसराज पर लेख है। शहीदे आजम भगत सिंह, दो बार राज्य सभा सांसद रहे व ग्रामोत्थान विद्यापीठ के संस्थापक स्वामी केशवानंद व आजीवन शोषितों-पीड़ितों की लड़ाई लड़ने वाले पं. नेकी राम शर्मा के जीवन पर भी लेखक ने प्रकाश डाला है।

पुस्तक का तीसरा भाग है - पुस्तक खंड। इसमें लेखक ने विभिन्न पुस्तकों की समीक्षा प्रस्तुत की है। इसमें देवेन्द्र सत्यार्थी की 'घोड़ा बादशाह', त्रिलोक चंद तुलसी की 'परिवेश, मन और साहित्य', सगुन चंद मुक्तेश की 'मैंने नहीं लिखा महाभारत : महर्षि वेदव्यास', हरभजन सिंह रेणु की 'भूमिका तौं बगैर' मोहन सपरा की 'काले पृष्ठों पर उकरे शब्द', फूल चंद मानव व डा. चंद्र त्रिखा द्वारा सम्पादित 'काली नदी के उस पार', सुरेश बरनवाल की 'संवेदनाओं से बुनी कहानियां' व डा. शेर चंद द्वारा सम्पादित 'ढोले वल्लूराम बाजीगर दे'। ये पुस्तक समीक्षाएं इन तमाम किताबों के पढ़ने के लिए प्रेरित करती हैं।

पुस्तक का अंतिम खंड है - घटना खंड। इसमें पहले लेख में श्री युवक समिति एवं श्री युवक साहित्य सदन सिरसा में स्थित दो पुस्तकालय बनाने की कहानी है। दूसरी घटना प्रगतिशील लेखक संघ की गोल्डन जुबली (1986) पर आधारित है। किताब का अंतिम लेख राष्ट्रीय शांति सम्मेलन कटक के फरवरी 1991 के सम्मेलन पर आधारित रिपोर्ट है।

यह किताब कोलाज है विभिन्न लेखों का जो अनेक व्यक्तियों, स्थानों, किताबों व घटनाओं को जानने की उत्सुकता पैदा करती है।

पुस्तक - वे पन्ने
लेखक - पूरन मुद्गल
प्रकाशक - आस्था प्रकाशन, जालंधर

सम्पर्क-9468183394

विचारशीलता ही विकासशीलता

□किशु गुप्ता

आजकल युवाओं की किताबों व साहित्य में रूचि कम है, अधिकतर युवाओं का ध्यान सोशल नेटवर्किंग साईटस-फेसबुक, व्हाट्सअप, ट्वीटर, इंस्टाग्राम की तरफ अधिक है। एक सर्वे के दौरान पाया गया है कि अधिकतर युवा अपनी दैनिक दिनचर्या में से लगभग पांच से छह घंटे सोशल नेटवर्किंग साईटस पर बिताते हैं। सोशल मीडिया ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा हम सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना पैदा कर सकते हैं। सोशल मीडिया एक सरल व सस्ता संसाधन है, जिसके द्वारा अपने विचारों को कुछ ही क्षणों में संसार के एक कोने से किसी भी कोने में पहुंचा सकते हैं।

आजकल सोशल नेटवर्किंग माहौल खराब करने का काम कर रही है। लोग सोशल मीडिया का गलत इस्तेमाल कर भ्रम फैलाने का काम कर रहे हैं। कुछ लोग सोशल मीडिया का उपयोग कर पूरे देश में कश्मीर की रिपोर्ट को इस तरह पेश कर रहे हैं जैसे कि सारे कश्मीर में आपातकाल की स्थिति लागू हो गई है, लेकिन वहां के स्थानीय लोगों से बात करते हैं, तो पता चलता है कि एक-दो इलाकों को छोड़कर बाकी सभी जगह परिस्थिति सामान्य है। ऐसा ही माहौल सहारनपुर का दिखाया जाता है। सोशल नेटवर्किंग पर सोशल पोस्ट कम राजनैतिक प्रचार व साम्प्रदायिक पोस्टों की भरमार दिखाई दे रही है।

लोग सोशल मीडिया पर एक्टिव रहते हैं और अपनी फोटो डालते हैं और साथ ही किसी शायर की चार पंक्ति डालकर अपने शौर्य का गुणगान करते हैं। साधारणत: उनको उन पंक्तियों के लेखक का नाम भी पता नहीं होगा, लेकिन हजारों लाईक पाकर वह अपने आपको समाज सेवक व समाज सुधारक समझकर अपनी जिम्मेवारी पूरी समझते हैं।

सोशल मीडिया की पहुंच विश्वपटल पर स्थापित है, जिससे हम विभिन्न संस्कृतियों, सभ्यताओं, समाजों व वर्गों का अध्ययन करके, एक बेहतर समाज का निर्माण करने में सहायता कर सकते हैं।

देस हरियाणा पत्रिका के अंक-11 में रंगकर्मी कुलदीप कुणाल की कुछ पंक्तियां पढ़कर बहुत अच्छा लगा, उनके अनुसार- पढ़ने-लिखने की आदत ही नहीं है, कोई बहस नहीं है, कोई आलोचना नहीं है, हमें एक-दूसरे की समीक्षा आलोचना पढ़ने की आदत ही नहीं है। सोशल नेटवर्किंग फेसबुक पर सिर्फ वर्बल वोमिटिंग हो रही है, जिससे कोई सीरियस बात नहीं होगी, चाहे पचास हजार बात लिख लो, उससे कोई बदलाव आने वाला नहीं है। यह कथन रंगकर्मी कुलदीप कुणाल ने हरियाणा सृजन उत्सव में कहा था, जो आजकल यू-ट्यूब पर बहुत प्रचलित हो रहा है।

मैं देस हरियाणा पत्रिका की नियमित पाठक हूं। जो काम देस हरियाणा पत्रिका हमारे समाज में कर रही है, वह अतुलनीय है। हमें ऐसी पत्रिकाओं को बढ़ावा देना चाहिए। साथ ही इस तरह पांच-दस पत्रिकाएं अवश्य हों, ताकि एक विचारशील माहौल पैदा हो, क्योंकि विचारशीलता ही विकासशीलता की निशानी है।

सम्पर्क-8199053970